दर्शन पाठमाला

समकालीन भारतीय दर्शन के कुछ मानववादी चिंतक : तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

लेखिका
डॉ० (श्रीमती) प्रेमलता

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग)

दर्शन पाठमाला

समकालीन भारतीय दर्शन के कुछ मानववादी चिंतक : तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

लेखिका

डॉ० (श्रीमती) प्रेमलता

रीडर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग

गनपतराय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

सुल्तानपुर (उत्तर प्रदेश)

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा विभाग

भारत सरकार

2001

❑ **प्रकाशक :**

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

पश्चिमी खंड 7, रामकृष्णपरम,

नई दिल्ली - 110 066

❑ **मूल्य : 153/-(*एक सौ तेरपन रूपए मात्र*)**

❑ **© भारत सरकार :** 2001

❑ **बिक्री हेतु संपर्क सूत्र :**

(1) बिक्री अनुभाग

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

पश्चिमी खंड - 7, रामकृष्णपुरम,

नई दिल्ली - 110 066

(2) प्रकाशन नियंत्रक

प्रकाशन विभाग, भारत सरकार

सिविल लाइन्स,

नई दिल्ली - 110 054

समर्पण

जिनकी स्नेहिल छत्रछाया में जीवन के स्वर्णिम क्षण बीते उन वात्सल्य एवं स्नेह की मूर्तिद्वय स्वर्गीया माता श्रीमती सरस्वती देवी एवं स्वर्गीय पिता श्री बजरंगीलाल श्रीवास्तव की पावन स्मृति में श्रद्धा सुमन के रूप में समर्पित।

आमुख

भारत सरकार ने विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा-माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के लिए तत्कालीन शिक्षा मंत्रालय (अब मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के अधीन सन् 1961 में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना की। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आयोग ने अनेक पारिभाषिक कोशों, चयनिकाओं, पाठमालाओं तथा विश्वविद्यालय स्तरीय हिंदी-पुस्तकों का निर्माण किया है। अनेक पाठ्यपुस्तकें, शब्द-संग्रह, परिभाषा-कोश, चयनिकाएँ, पत्रिकाएँ, पाठमालाएँ आदि प्रकाशित हो चुकी हैं।

पाठमालाओं के निर्माण में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि उनकी विषय-सामग्री उपयोगी तथा अद्यतन हो और भाषा सरल, बोधगम्य एवं आकर्षक हो ताकि अध्यापक भी हिंदी माध्यम से अपने-अपने विषय को पढ़ाने में सक्षम हो सकें।

प्रस्तुत पाठमाला 'समकालीन भारतीय दर्शन के कुछ मानववादी चिंतकः तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' की विदुषी लेखिका डॉ० (श्रीमती) प्रेमलता ने धर्म तथा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मानववाद के उद्भव तथा महत्व का तत्वान्वेषी परिचय देते हुए मानववाद के विषय में भारत के मूर्धन्य वैचारिकों की विचार दृष्टि का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। स्वामी विवेकानंद, रवींद्र नाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी तथा मानवेंद्र नाथ राय ने मानव के धर्म-लक्षण के रूप में मानववाद को ही प्रतिष्ठापित एवं प्रतिपादित किया था। इनके प्रतिपादन में लेखिका ने अनेक उपागमों द्वारा मानववाद की बहुविध व्याख्या की है।

इस पुस्तक का पुनरीक्षण आयोग के दर्शन विभाग के पूर्व प्रभारी डॉ० गोवर्धन प्रसाद भट्ट ने किया है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

मुझे विश्वास है कि यह पाठमाला दर्शन के स्नातक, स्नातकोत्तर तथा शोध स्तर के छात्रों तथा जिज्ञासुओं के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी।

(डॉ० हरीश कुमार)
अध्यक्ष

पुरोवाक्

चिंतन मानव का सहज स्वभाव है। विश्व के सर्वाधिक प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' के 'नासदीय सूक्त' के प्रणयन काल से ही मानव की जिज्ञासु प्रवृत्ति के प्रमाण मिलने लगते हैं। सृष्टि के बहुविध बहुरंगी पदार्थों के प्रति कुतूहल प्रायः सभी लोगों में स्वभावतः जागृत होता है, परंतु यह विश्व कहाँ से आया और कहाँ विलीन होगा, हम कौन हैं, कहाँ से आए हैं और अंततः कहाँ जाएंगें — इस प्रकार की तत्वपरक विचारणा कतिपय संस्कार संपन्न मेधावी जनों में ही जन्म लेती है। नासदीय सूक्त का द्रष्टा ऋषि कहता है— को अद्धा वेद रु इह प्रवोचत कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः

जगत के इस सुदीर्घ क्रीड़ागण में, असंख्य चराचर प्राणियों के अनेक विध भाषा, आकार, वेष एवं व्यवहार को देख कर, कल्लोल करती तरंगिणियों को अपने क्रोड से प्रवाहित करने वाले, कोटि-कोटि वनस्पतियों तथा हिमशिखरों से अभिमंडित, अनंत रहस्यों के अधिष्ठान, गगनचुंबी भूधरों को देखकर, अपनी उत्ताल दुर्दांत तरंगों से तांडव करते हुए गंभीर विस्तीर्ण नील सागर को देखकर तथा रात में नक्षत्र मालाखचित अंतहीन नीलांबर को निरखकर हमें अपनी अज्ञता और अतिशय असमर्थता का बोध होता है तथा जिसके अनुशासन में यह समग्र प्रकृति प्रशिक्षित नृत्यांगना-सी अनवरत हास्य करती हुई जिसे रिझाने की चेष्टा कर रही है, उस जगत् नियंता जगदीश्वर की सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता का अनुमान करने को हम बाध्य हो जाते हैं। मानव की इस सर्वतोमुखी अज्ञता ने ही विविध विचारपरक शास्त्रों का जन्म दिया है।

इन समस्त शास्त्रों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं— दर्शन शास्त्र एवं दर्शनेतर शास्त्र। दर्शनेतर शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय जगत के भिन्न-भिन्न ज्ञेय पदार्थ हैं, किंतु दर्शनशास्त्र का विषय इनसे सर्वथा भिन्न है। क्योंकि उसका प्रतिपाद्य कोई 'ज्ञेय' नहीं बल्कि उन ज्ञेय पदार्थों को अपने ज्ञान का विषय बनाने वाला'ज्ञाता' है अर्थात् दर्शनशास्त्र में ज्ञाता, विषयी अथवा द्रष्टा का अध्ययन किया जाता है जब कि अन्य शास्त्रों में ज्ञेय, विषय अथवा दृश्य का। वस्तुतः बहिर्मुखी जिज्ञासा दर्शनेतर शास्त्रों की जननी है और अंतर्मुखी जिज्ञासा दर्शनशास्त्र की उपादयित्री है।

सृष्टिकर्ता ने मानव को अपनी प्रतिकृति के रूप में, अपने ही स्वरूप में निर्मित किया है। श्रुति में कहा गया है 'एकोहं बहु स्याम 'अर्थात् एक ही सृष्टिकर्ता अखिल चराचर जगत् रूप में परिणत हो गया है। किंतु मानव अखिल प्राणियों में शिरोमणि और समस्त विचारों का केंद्रभूत है। महर्षि व्यास ने भी कहा है — "नहि मनुष्याच्छेष्ठतरं हि किंचित्।" इसलिए वेदांत दर्शन में आत्मज्ञान को परम पुरुषार्थ और मुक्ति का साधन बताया गया है।

कालांतर में समाज के कतिपय स्वार्थनिष्ठ लोगों ने जानबूझ कर मानव को ज्ञान-विज्ञान के केंद्र से हटा कर उसे परिधि पर खड़ा कर दिया और तब नानाविध अज्ञानपरक अंधविश्वासों ने जन्म ले लिया और मानव की यातनाएं-यंत्रणाएं बढ़ने लगीं। भाता धर्म और दर्शन उसके लिए त्रासद बन गया। पुनः समय बीतने के साथ विज्ञान युग का प्रार्दुभाव हुआ। विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि ने उक्त अंधविश्वास एवं मिथ्याचारों पर प्रबल प्रहार करना प्रारंभ किया। फलतः परिधि पर गया हुआ मानव पुनः विचार और दर्शन के केंद्र में आता चला गया। इस तरह आधुनिक मानववाद का जन्म हुआ।

मानववाद मानव की गरिमा में अटूट आस्था एवं विश्वास रखने वाला दर्शन है। यह मानव की सत्ता, स्वतंत्रता और हित का पक्षधर है। मानववाद का केंद्र बिंदु स्वयं मानव है, मानव की समग्रता है, जिसमें मानव के प्रत्येक पक्ष यथा-मानसिक, शारीरिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि सभी का समावेश है। मानववाद इसी समग्रता के साथ मनुष्य की पहचान को प्रतिष्ठित करने का उद्घोष है जिसका प्रमुख ध्येय मानवगत दुर्बलता, हताशा, भय, संत्रास से निरंतर मुक्ति प्राप्त कर पाने की क्षमता एवं शक्ति-सामर्थ्य का उसमें संचार करना है। इस प्रकार मानववाद मानव सुलभ दुर्बलताओं का निरसन करके उसे अपनी महिमा में प्रतिष्ठित करने का सजग प्रयास है। मानववादी चिंतकों का उद्देश्य केवल औरों की सहायता करके अपनी अंतरात्मा को संतुष्ट करना मात्र नहीं होता वरन् उनका उद्देश्य दूसरों की सहायता करके उन्हें अपनी सहायता स्वयं करने के योग्य बनाना है। वे चाहते हैं कि व्यक्ति स्वावलंबी बनें, अपनी मानवीय गरिमा के प्रति सचेत हों, अपनी नैतिक संवेदना के प्रति गर्व अनुभव करें और यह भी विश्वास करें कि अपने प्रयास द्वारा अपने भाग्य का निर्माण वे स्वयं ही कर सकते हैं।

बीसवीं शताब्दी का समापन और इक्कीसवीं शताब्दी का शुभागमन मानवता के उत्तरोत्तर भौतिक उत्थान के निमित्त अनेकानेक दृष्टियों से कल्याणकारी है। यह युग विस्मयकारी बौद्धिक क्षमता का परिचायक है। इसी क्षमता के बल पर आज वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति अपने उत्कर्ष पर पहुंचने को तत्पर है और आज का मानव इसी भौतिक उत्कर्ष को अपने जीवन की सार्थकता का पर्याय समझने लगा है यह उसकी भूल है क्योंकि पाने की इसी अदम्य लालसा ने उससे बहुत कुछ मूल्यवान छीन लिया है — यहाँ तक कि वह अपने निज स्वरूप को विस्मृत कर चुका है। विस्मृति का यह दौर हमारे देश के लिए और अधिक त्रासद है क्योंकि जिस भारत वंसुधरा की त्याग-तपस्या, प्रेम-सेवा एवं आत्मोत्सर्ग की संस्कृति ने उसे जगद्गुरू के महिमान्वित पद पर प्रतिष्ठित कर रखा था, उसके विस्मरण ने आज स्वार्थपरक वृत्तियों, हिंसात्मक एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों को जन्म दिया है जिससे हमारा संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन अव्यवस्था एवं विश्रृंखलता के कगार पर पहुंच चुका है।

चरित्र का यह संकट सभी के लिए चिंता का विषय है। इस संकट का समाधान होना ही चाहिए। हमें गंभीरता से इस स्थिति को समझना होगा, उस पर विचार करना होगा और इस प्रक्रिया में ऐसा लगता है कि उन विचारकों की ओर प्रत्यावर्तन करना होगा जिन्होंने आधुनिक युग के आरंभ में ही हमें इस प्रवृत्ति के भयावह परिणामों के विषय में आगाह किया था और उससे उबरने का मार्ग भी सुझाया था। उनके विचार आज भी अपनी सार्थकता रखते हैं क्योंकि उनमें मानवीय त्रासदी के प्रति एक अतिशय संवेदनशीलता है और है मानव प्रकृति की एक गहरी समझ। यही नहीं, उनका दृष्टिकोण सर्वथा आधुनिक और उसमें आज की वैज्ञानिक मानसिकता की चुनौतियों का सामना करने की भरपूर शक्ति भी है।

इस संदर्भ में हमने अपने गत अनेक वर्षों के अध्ययन-अध्यापन, गवेषणापरक चिंतन-मनन के पश्चात् कतिपय समकालीन मानववादी विचारक यथा—स्वामी विवेकानंद, रवींद्र नाथ टैगोर, महात्मा गाँधी एवं मानवेंद्रनाथ राय की मान्यताओं, विचारों, संस्थापकों को एक शोधपरक अध्ययन कर उसे ग्रन्थाकार रूप देने का प्रयास किया है जिसका शीर्षक है समकालीन भारतीय दर्शन के कुछ मानववादी चिंतक "तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" संस्थापकों का एक शोधपरक अध्ययन आज की समस्याओं की सही समझ अपने में विकसित करने और

उनका सही समाधान ढूंढ़ निकालने के प्रयास ही में हमने इन चिंतकों का अध्ययन इस कृति में प्रस्तुत किया है ताकि उनकी संवेदनशील मानववादी दृष्टि से हम लाभान्वित हो सकें और वस्तु स्थिति हमारे समक्ष सही परिप्रेक्ष्य में आ सके। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रंथ का सही प्रयोजन भी है कि वह हमें इन चिंतकों के विचारों के माध्यम से जीवन के उच्चतम आयामों से संबद्ध अंतर्दृष्टियों के प्रति आस्था और विश्वास जागृत कर सके। यही इन समकालीन चिंतकों का भावी पीढ़ी को अविस्मरणीय योगदान होगा।

यह ग्रंथ स्वामी विवेकानंद, रवींद्र नाथ टैगोर, महात्मा गाँधी एवं मानवेंद्र नाथ राय की मानववादी दृष्टि के उद्घाटन का एक विनीत प्रयास है। यह मानववाद के गंभीर अध्येताओं और शोधकर्ताओं के लिए अत्यंत उपादेय होगी—ऐसा विश्वास है। यदि इस प्रयास को सुधी जन ने स्वीकार किया तो यही इस ग्रंथ की सफलता होगी।

इस अवसर पर मैं उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करना चाहूंगी जिन्होंने इस ग्रंथ के लेखन में मुझे प्रेरणा एवं सहयोग दिया है। सौभाग्य से जीवन में ऐसे सुधी गुरुजनों का संपर्क मिला जिन्होंने दार्शनिक स्फुरण को जागृत कर गति प्रदान की, जिनमें परम आदरणीया, श्रद्धेया डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना, सेवा निवृत्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर अनन्यतम हैं। इन्हीं की सत् प्रेरणा एवं प्रोत्साहन का प्रतिफल है यह ग्रंथ। मेरे जीवन के दिशा निर्देशन में भी उनके सुझावों का अपूर्व योगदान रहा है जिसे शब्दबद्ध नहीं किया जा सकता। परम पूज्य गूरु — डॉ० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, सेवा निवृत्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, डॉ० सभाजीत मिश्र, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, पं० दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय गोरखपुर तथा डॉ० रैवती रमण पांडेय, प्रो० एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रति मैं श्रद्धावनत हूं जिनके वैदुष्य और स्नेह का वरदहस्त मुझे निरंतर उत्साहित करता रहा। इन विशिष्ट गुरुजनों से प्रेरणा मिली। विशेष कर गुरुवर्य डॉ० पांडेय जी ने जो सहायता की, वह विरल है। इस अवसर पर उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना परम धर्म समझती हूं। अपने महाविद्यालयी सहयोगियों में आदरणीय डॉ० शारदा प्रसाद, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, ग०स० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सुलतानपुर के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहूंगी जिनका सहज भाव भरा सहयोग मुझे सदैव ही मिला है और वह अविस्मरणीय रहेगा।

मैं अपने सहृदय पति श्री राजेश कुमार और पुत्र द्वय श्री परितोष एव श्री कुमार प्रियम् के प्रति अति ऋणी हूं जिन्होंने इस ग्रंथ को पूर्ण करने में इस कार्य की शीघ्र सुसंपन्नता हेतु सदैव प्रेरणा प्रदान की है। एतदर्थ उनके अति कृतज्ञ हूँ। मेरे माता-पिता तो मेरे जीवन के प्रेरणा स्रोत ही रहे हैं। इनसे मुझे वे संस्कार मिले जिनसे दर्शन में मेरी रुचि जगी। उनके प्रति आभार व्यक्त कर मैं उनकी महत्ता को कम नहीं करूगीं। मैं उनके चरणों में सादर प्रणाम करती हूँ जिनके आशीष का प्रकाश मेरे जीवन पथ को सतत आलोकित कर रहा है। यह कृति श्रद्धा रूप में उन्हें ही समर्पित है।

अंत में मैं वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ के प्रकाशन का गुरुतर भार वहन किया और इस रूप में प्रस्तुत ग्रंथ का श्लाध्य प्रबंध किया।

'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवतेयव प्रमादतः' — इस न्याय वाक्य के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ में त्रुटियां सहज संभाव्य हैं। सुधी पाठकों से निवेदन है कि उन्हें इंगित कर हमें अनुगृहीत करें ताकि भविष्य में उनका परिहार किया जा सके।

डॉ० (श्रीमती) प्रेमलता

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ-संख्या
1.	आमुख	v-v
2.	पुरोवाक्	vii-xi
3.	पहला अध्याय : भूमिका	1-22
4.	दूसरा अध्याय : स्वामी विवेकानंद	23-46
5.	तीसरा अध्याय : रवींद्र नाथ टैगोर	47-73
6.	चौथा अध्याय : महात्मा गाँधी	74-100
7.	पांचवां अध्याय : मानवेंद्र नाथ राय	101-122
8.	छठा अध्याय : निष्कर्ष	123-134
9.	परिशिष्ट : सहायक ग्रंथ सूची	135-139

अध्याय - 1

भूमिका

'मानववाद' वर्तमान युग का सर्वाधिक प्रचलित एवं आकर्षक दर्शन है किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि यह समकालीन दर्शन की ही देन है। मानववादी दर्शन की परंपरा अति प्राचीन है। जब भी मानव के कल्याण अथवा हित साधन को चिंतन का विषय बनाया गया, उसमें मानववादी दृष्टि का समावेश हो गया। मानववाद मुख्यतः वह दृष्टि है जो मानव को चिंतन के केंद्र में रखती है। वह मनुष्य को ही समग्र मूल्यों का मानदंड स्वीकार करती है।[1] इसलिए उसमें मानवीय जीवन का सर्वाधिक महत्व है। इस प्रकार चिंतन की कोई भी प्रणाली या क्रिया जिसका संबंध मात्र मानवीय से हित अथवा सामान्यतः मानवजाति के हित (व्यक्ति के हित से भिन्न) से हो, मानववाद कहलाता है। इसे मानव का धर्म भी कहते हैं।[2]

'मानववाद' शब्द का प्रयोग मात्र दार्शनिक क्षेत्र में ही नहीं हुआ है। सांस्कृतिक और सहित्यिक क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग देखने को मिलता है। मानववाद किसी सुनिश्चित विचार पद्धति की प्रस्तुति नहीं है — वस्तुतः वह एक दार्शनिक अभिवृत्ति है, जिसे हम अनेक विचार-पद्धतियों में प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से आध्यात्मिक व्यक्तिवाद, अर्थक्रियावाद, अस्तित्ववाद तथा मार्क्सवाद भी मूलतः मानववादी वृत्ति की विचारधाराएं हैं क्योंकि इन सभी का केंद्र बिंदु मनुष्य है।

यदि दर्शन के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो आदि काल से ही मानव कल्याण के चिंतन में निमग्न विभिन्न दार्शनिकों का हमें परिचय प्राप्त होता है। ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी में प्रोटागोरस को प्रथम मानववादी दार्शनिक माना जाता है। उसका सुप्रसिद्ध वाक्य 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदंड है' स्पष्ट रूप से मानववाद की

1. अब्बग्नानो निकोला 'ह्युमैनिज़्म' पॉल एडवर्ड्स (सं०), द एन्साइक्लोपीडिया फिलासफी, खंड चार, न्यूयार्क : मैकमिलन एण्ड फ्रीड प्रेस, पृ० 69-72
2. द ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी, वाल्यूम पांच, (एच०के०) लंदन : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1970, पृ० 444

मूलभूत दृष्टि की ओर संकेत करता है और सभी मानववादी दार्शनिकों
काम करता है। यूं तो पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन में मानववाद
इतिहास है, किन्तु हम इस ग्रंथ की दृष्टि से पुनर्जागरण काल ही से अप
प्रारंभ करते हैं।

पुनर्जागरणकालीन मानववाद

सामान्यतः मानववाद को पश्चिमी यूरोप के पुनर्जागरणकाल की एक लाक्षणिक अभिवृत्ति के रूप में पहचाना जाता है। यूरोप में मध्यकाल का अंत एक बौद्धिक उद्‌बोधन से हुआ, जिसे पुनर्जागरण काल कहते हैं। सर्वप्रथम ज्ञान का पुनर्जागरण इटली में हुआ और तत्पश्चात् वह संपूर्ण यूरोप में छा गया, उसने जीवन के सभी पक्षों- समाज, चर्च, कला, साहित्य, विज्ञान एवं शास्त्रीय ज्ञान आदि को प्रभावित किया। पुनर्जागरण का केंद्रीय पक्ष मध्यकालीन मानसिकता का निषेध था। वस्तुतः पुनर्जागरण ईसाई विधि से चिंतन के प्रति विद्रोह था। मध्यकालीन ईसाई धर्म का विश्वास था कि मनुष्य का जागतिक जीवन इसलिएं महत्वपूर्ण है कि उसे अपनी आत्मा के उद्धार हेतु ईश्वर की कृपा की आकांक्षा होती है। ईसाई धर्म में मनुष्य के जागतिक सहज जीवन की जो उपेक्षा हुई उसी के विरुद्ध पुनर्जागरण काल के मानववादियों ने आवाज उठाई और उन्होंने यह बताया कि मृत्यु के पहले भी मानव-जीवन की सार्थकता है, उसका मूल्य है और उसमें अनंत संभावनाएं हैं। एम० एन० राय के अनुसार यह जीवन की ऐसी विधा थी जिसने धर्मशास्त्रीय विवादों एवं पुरोहितों के अत्याचारों से अपने को मुक्त करते हुए स्वतंत्र चिंतन से अपने को पोषित किया। प्रकृति के प्रति रागात्मक लगाव, उसके सौंदर्य की प्रशंसा ही इस नवीन स्वर की प्रमुख विशेषता थी और इसके द्वारा उसे अपनी वैयक्तिकता का ऐसा एहसास हुआ जो इस रूप में इससे पहले कभी नहीं हुआ था।[3]

प्रथम परिवर्तन जो नवजागरण के द्वारा हुआ वह दर्शन और धर्मशास्त्र का पृथक्करण था। दर्शन का कार्य तत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त करना है और यह खोज धर्मशास्त्र-निरपेक्ष भौतिक विज्ञान पर आधारित है। इसी कारण प्रारंभ ही में दर्शन को प्रकृति दर्शन की संज्ञा मिली। इस प्रकृतिदर्शन का प्रारंभ जगत में मनुष्य के स्थान की खोज से हुआ। इस समस्या का समाधान पुनर्जागरणकालीन दर्शन ने सुसंस्कृत जीवन की बदली हुई अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में दिया।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, पुनर्जागरणकालीन आदर्श मध्यकालीन धार्मिक आदर्श के विपरीत मूलतः मानववादी था। उसका आदर्श जीवन की स्वीकृति का था उसकी अस्वीकृति का नहीं। उसने मनुष्य की महत्ता तथा उसकी गरिमा को आदर दिया और उसकी रचनात्मकता को स्वीकार किया। उसने संकल्प-स्वातंत्र्य, विश्व-

3. चक्रवर्ती, ए० ह्युमैनिज़्म इन इंडियन पॉलिटिकल थॉट-मद्रास ; नाटेसन, 1937, पृ० 77

बंधुत्व और गहन व्यक्तिवाद के प्रति सशक्त लगाव प्रदर्शित किया। उसने मनुष्य की नवीन अवधारणा को स्वीकार किया, जिसके अनुसार वह मूलतः शिव है और उसमें सभी वस्तुओं का मापदंड होने की क्षमता है। ज्ञान-विज्ञान की समस्त शाखाओं ने मनुष्य की इस नवीन अवधारणा को स्वीकार किया। इसमें प्रारंभिक माप के सिद्धांत का एवं अलौकिक शक्ति से ही मनुष्य के कल्याण की संभावना का पूर्णतः निषेध था।

मनुष्य की यह अवधारणा मानव के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में विश्वास करने वाली थी। इसके फलस्वरूप कुछ ऐसे आदर्श निकले जो मानवीय होने के साथ-साथ कालांतर में क्रमशः हासिल होने वाले थे। इनमें यह मान लिया गया कि जगत् एवं व्यक्तियों के बीच पारस्परिक समायोजन की सतत प्रक्रिया ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।[4] मनुष्य का स्वरूप, मानवीय महत्ता, मनुष्य का उदात्तीकरण आदि समस्याएं पुनर्जागरण-साहित्य की मुख्य समस्याएं थीं। राजनीति के क्षेत्र में भी स्वतंत्रता — मध्ययुगीन परंपराओं, हठवादिता आदि से स्वतंत्र रहने पर विशेष बल दिया गया। "यह अनुभव किया गया कि यदि जीवन को संपूर्णता में जीना है, तो वह राजा/शासक एवं समाज के अत्याचारों से अवश्य स्वतंत्र हो।"[5] प्रकारांतर से यह राजा के दैवी अधिकार के सिद्धांत पर कुठाराघात था।

मनुष्य पर पुनर्जागरणकालिक दबाव के फलस्वरूप यूनानी/रोम के गौरव एवं ग्रंथों की पुनः खोज हुई। इन पुरातन ग्रंथों के अध्ययन के फलस्वरूप मध्यकालीन धार्मिक संकीर्णता, धार्मिक कट्टरता के स्थान पर बौद्धिक स्वतंत्रता, उत्साह और सांसारिक वस्तुओं के प्रति प्रेम का अभ्युदय हुआ। इन ग्रंथों का और इनसे संबद्ध सभी सर्जनात्मक क्रियाओं का अध्ययन बड़ा ही महत्वपूर्ण समझा गया। इस अर्थ में पुनर्जागरणकालीन साहित्य के आधार पर इस समय के मानववाद को साहित्यिक मानववाद कहा जा सकता है।

इस प्रकार का मानववाद संक्षेप में मध्यकालीन पारलौकिक अभिवृत्ति तथा चर्च की कट्टरता के विरुद्ध तर्कबुद्धि के विश्वास में निहित था। अन्य शब्दों में यह इस धरा पर मानवीय जीवन के अभ्युदय हेतु बुद्धि के प्रयोग में विश्वास करता था तथा साथ ही मनुष्य की शक्ति एवं सामर्थ्य में विश्वास करता था।

आधुनिक युग की मानववादी धाराएं

मानववादी विचारधारा के अध्ययन की दृष्टि से आधुनिक युग अति महत्वपूर्ण रहा है। इस युग की विविध विचारधाराओं में मानववादी स्वर की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। इनमें मुख्य हैं प्रकृतिवादी मानववाद, उपयोगितावादी मानववाद का धर्मनिष्ठ मानववाद अथवा समग्र मानववाद, मार्क्सवादी मानववाद तथा अस्तित्ववादी मानववाद।

4. स्टोडार्ड, एल०टी० 'साइन्टिफिक ह्युमैनिज़्म' न्यूयार्क : स्क्रिबनरस, 1926, पृ० 70
5. एन्साइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइन्सेज, खंड सात, न्यूयार्क : मैकमिलन, 1930

इनमें भी मार्क्सवादी एवं अस्तित्ववादी मानववाद अधिक महत्वपूर्ण एवं सशक्त है। इन्होंने भावी चिंतन को विशेष रूप से प्रभावित किया है। इनमें हमें वैज्ञानिक चिंतन के फलस्वरूप मनुष्य का जो रूप उभर कर सामने आता है, उसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। इसलिए इनके विचारों तथा इनकी पृष्ठभूमि में विद्यमान दृष्टिकोण का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

प्रकृतिवादी विचारधारा

पुनर्जागरण-काल के पश्चात् नवीन दार्शनिक काल का उदय हुआ जो प्रबोध काल के नाम से जाना गया। वह पुनर्जागरणकालीन दर्शन से भिन्न था। सोलहवीं शताब्दी के अंत में, पुनर्जागरण के फलस्वरूप आधुनिक विज्ञान के विकास एवं प्रसार में प्राचीन गौरव-ग्रंथों के अध्ययन का अधिक दबाव बाधक सिद्ध हुआ। नई दृष्टि के फलस्वरूप मनुष्य के स्थान पर प्रकृति को अध्ययन हेतु केंद्र में लाने का निर्णय लिया गया और मनुष्य जो केंद्र में स्थापित था प्रकृति के घटक के रूप में ही एक इकाई मात्र होकर रह गया। नई वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार प्रकृति ही सब कुछ है प्रकृति से परे कुछ भी नहीं और प्रकृतिवादी धार्मिकता के प्रति सदैव आलोचक होता है, विश्वास के स्थान पर युक्ति को अधिक महत्व देता है तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का हिमायती होता है। प्रकृतिवाद मनुष्य को निःशेष रूप से इस संसार का प्राणी मानता है, मनुष्य मृत्यु से परे नहीं है। वह एक ऐसी आचार-संहिता मानता है जो अपने कार्य एवं उद्देश्य में इस संसार में ही सीमित है। यद्यपि मनुष्य प्रकृति का अंग है, अतः जड़ है तथापि वह महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रकृति का वह एक अद्भुत प्राणी है और प्रकृति की सभी वस्तुएं उसी के सुख के निमित्त हैं। मनुष्य निरा जड़ नहीं अपितु मन भी है। वस्तुतः वह शरीर और मन का ऐक्य है। अतः अतिप्राकृतिक के निषेध का अर्थ होता है राजा के दैवी अधिकार के सिद्धांत का निषेध एवं हाब्ज लॉक, रुसो के राज्य संबंधी सामाजिक अनुबंध सिद्धांत का विकास। सामाजिक-अनुबंध-सिद्धांत नियम-व्यवस्था एवं राज्य के प्रति सांसारिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति था। इस सांसारिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप प्राकृतिक व्यवस्था और प्राकृतिक धर्म की अवधारणा का विकास हुआ। लॉक ने प्राकृतिक व्यवस्था के आदर्श को कायम किया जिसकी दूसरी संज्ञा बुद्धि थी और जिसे नागरिक अधिकार सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया।

इस युग में समष्टि के साथ व्यष्टि को जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वीकार करना मानववादी इतिहास में बहुत बड़ा कदम था क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य ने प्लेटोवाद की काल्पनिक आकांक्षाओं से स्वतंत्र होना सीखा और जीवन की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान अपनी नैतिक एवं बौद्धिक क्षमताओं से करने का प्रयास किया। उसने प्रकृति में अपने रचनात्मक दायित्व के पक्ष पर सोचना प्रारंभ किया और इस बात का एहसास किया कि कला, ज्ञान, नैतिक आचार एवं समाज सब कुछ उसी की रचना है और सब कुछ उसकी पहुंच के भीतर है।

प्रकृति के अध्ययन मे अभिरुचि उत्पन्न होने से प्रकृतिवादी दर्शन में विकासवाद का उदय हुआ। चार्ल्स डार्विन ने अपनी कृति 'ओरिजिन ऑव स्पीसीज' (1859) में इस सिद्धांत की स्थापना की कि मानव अंगी के रूप में विकासात्मक प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है। मनुष्य की रचना एक दिन में नहीं हुई। सृष्टि की कहानी एक मिथक है। मनुष्य विकास का फल है और आज की अवस्था हजारों वर्षों की विकासात्मक प्रक्रिया का परिणाम है। मनुष्य का आविर्भाव देवताओं से न होकर बंदर से हुआ है। न तो मनुष्य और न ही पृथ्वी किसी अलौकिक शक्ति के द्वारा निर्मित है। धर्म किसी के व्यक्तिगत विश्वास की चीज हो सकती है पर विकास की प्रक्रिया के तहत ही हम मनुष्य के स्वरूप की व्याख्या कर सकते हैं।

जुलियन हक्सली विकासात्मक सिद्धांत में अंतर्निहित मानववाद के एक अधिवक्ता हैं। उनके विचार उनकी पुस्तक 'द ह्यूमनिस्ट फ्रेम' (1961) में प्रतिपादित है।[6] उनके अनुसार हम सतत तनाव और भय के युग में जी रहे हैं। एकमात्र शुद्ध भौतिकवादी दर्शन आज की सभी समस्याओं का समाधान नही कर सकता है। अतः यह आवश्यक है कि हम पुरानी परंपराओं और विश्वासों से संबंध तोड़ें और नवीन मूल्यों, सिद्धांतों एवं आदर्शों को स्वीकार करें जो आज के युग के अनुकूल है। विकास का सिद्धांत एक ऐसा ही सिद्धांत है क्योंकि इसने जीवन के सभी पक्षों एवं पर्यावरण से मनुष्य के संबंधों के बदले हुए दृष्टिकोण को स्वीकारा है। यह मनुष्य को एक ऐसे प्राणी के रूप में स्वीकार करता है जो बिना किसी अलौकिक शक्ति की सहायता के सारी समस्याओं के समाधान में सक्षम है। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है, अतः अपने सुख को बनाना अथवा बिगाड़ना स्वयं उसी पर निर्भर करता है। यह मानववाद के अन्य प्रकारों से भिन्न है क्योंकि यह एकात्मक है और मानववाद के अन्य प्रकार द्वैतवादी हैं। यह एकात्मक है, क्योंकि यह मानव-मन और शरीर की मूल एकता पर बल देता है। प्रबोधकाल में वैज्ञानिक ज्ञान के फलस्वरूप तकनीकी और उद्योगों का विकास हुआ। उद्योगों के विकास के फलस्वरूप उद्योगों में लगे हुए कर्मियों के प्रति अमानवीय व्यवहार बढ़ा। कर्मियों की शोचनीय अवस्था के फलस्वरूप लोकोपकारवादियों और सामाजिक चिंतकों की सहानुभूति उधर गयी। मानवीय गरिमा एवं अर्हता की चिंता के फलस्वरूप सामाजिक सुधार के रूप में संसदीय विधान को स्वीकार किया गया। उपयोगितावादी दर्शन का 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' में विश्वास बड़े ही स्पष्ट रूप में मानववादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। इसके अनुसार धर्म अन्य संस्थाओं की तरह एक संस्था है न कि कोई ऐसी संस्था जिसके नीचे अन्य संस्थाएं हैं।

6. विस्तार के लिए देखिए - हक्सली, जुलियन एस० (सं०) द ह्युमैनिस्ट फ्रेम, लंदन : एलेन एण्ड अनविन, 1961

ऑगस्त कॉंत इस दृष्टिकोण से इतने अभिभूत हुए कि वे मानव की उपासना के हिमायती हो गए। दार्शनिक दृष्टि से वह अनुभववादी हैं। अतः उनका मानववाद 'अनुभववादी मानववाद' के रूप में जाना जाता है।

फ्रांस में समानता, स्वतंत्रता, विश्व-बंधुत्व के विचारों ने हिंसक क्रांति के माध्यम से लोकतंत्र को जन्म दिया। फ्रांस का यह प्रकाश अन्य देशों में फैला एवं उनमें लोकतांत्रिक आंदोलन सशक्त किया। इग्लैंड में बेंथम के अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'आन लिबर्टी' की रचना की। यह ग्रंथ स्वतंत्रता-प्रेमी लोगों के लिए बाइबिल बन गया और कार्य, अभिव्यक्ति तथा विचार के स्वातंत्र्य के अधिकार स्वयंसिद्धि के रूप में मान लिए गए। उसने स्त्री-अधिकार की भी वकालत की।

जब इन आंदोलनों द्वारा लौकिक आदर्श स्थिर हो रहे थे धार्मिक जन इनके अंतर्गत चुनौतियों के प्रति उदासीन नहीं थे। उन्हें विश्वास था कि मनुष्य का सुख धर्म की सीमा में है। रोमन कैथोलिक चर्च ने विशेष रूप से इस चुनौती को स्वीकार किया। फ्रेंच कैथोलिक विचारक जयक्विस मार्टिन ने इसे चुनौती को स्वीकार किया और मानववाद तथा कैथोलिक विश्वास में एक समन्वय स्थापित किया जिसे 'समग्र मानववाद' नाम दिया गया। मार्टिन का दावा है: "जैसे मध्ययुग में ऑगस्टाइन की कृपा एवं स्वातंत्र्य की अवधारणा छायी रही और आधुनिक युग में कालविन एवं मोलिना की... मैं सोचता हूँ सेंट थॉमस का धर्मशास्त्र नए ईसाई धर्म को व्यवस्था देगा। उनका संकेत था कि मनुष्य में कोई ऐसी चीज़ है जिसकी विश्व व्यवस्था को अपेक्षा है। अलौकिक के संदर्भ में मनुष्य को अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा बहादुरी का जीवन अधिक पंसद करता है।"[7]

मार्टिन के अनुसार उनका समग्र मानववाद नई सभ्यता, जो कि ईसाई व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करेगी साथ ही लौकिक भी होगी, की अंतिम रूपरेखा है। यह मनुष्य की पूजा नहीं करेगी बल्कि मानवीय गरिमा, मानवीय अधिकार एवं मानवीय व्यक्तित्व की अर्हता को सशक्त करेगी एवं वास्तविक आदर दिलाएगी, साथ ही वह विश्व बंधुत्व के आदर्श को भी बढ़ावा देगी। इस प्रकार यह वीरोचित मानववाद होगा।

मानद की दो प्रकार की स्वतंत्रता है : दैवी और सांसारिक। समग्र मानववाद के नई सभ्यता का मनुष्य ईश्वर में, उसकी कृपा में और 'मनुष्य पाप करता है' की अवधारणा में विश्वास करेगा। इस संसार में मनुष्य ईश्वर की कृपा और संकल्प से सुखी रहेगा तथा एक साथ ही वह दोनों स्वामियों-स्वर्ग में ईश्वर और संसार में कुबेर परक की पूजा करने में समर्थ होगा। अतः समग्र मानववाद ईश्वरपरक है। वस्तुतः इसके मूल में पैगंबरवाद का सिद्धांत निहित है। मार्टिन के मानववाद के पक्षधर बर्डेव हैं।

7. मारटिन, जे, ट्रु ह्युमैनिज्म, लंदन : ज्योफरी ब्लेस, 1941, पृ० 61

मार्क्सवादी विचारधारा

मजदूरों के उचित अधिकार हेतु लोककल्याणकारियों की हिमायत अथवा प्रयत्नों के बावजूद औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप कुछ व्यक्तियों के हाथ में धन-सम्पत्ति का जमाव बढ़ता गया। पूंजीवाद के विकास ने उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया।

मार्क्स तथा ऐंजोल्स ने अपनी कृतियों में पूंजीवाद का सशक्त विश्लेषण किया। श्रमिकों के शोषण के विरुद्ध उन्होंने उद्घोष किया एवं श्रमिकों एवं पूंजीपतियों में संपत्ति के न्यायोचित बंटवारे की हिमायत की। उनका दर्शन, जो संपत्ति के न्यायोचित बँटवारे पर आधारित है, समाजवाद के रूप में जाना गया। समाजवाद में मानववादी तत्व विद्यमान हैं। इसीलिए मार्क्स के अनुयायियों ने उसके दर्शन को 'समाजवादी मानववाद' नाम दिया। मार्क्स के मानववाद की दो अवस्थाएं हैं। एक प्रारंभिक, दूसरी अंत की। उसका प्रारंभिक मानववाद 1932 में इकोनोमिक एन्ड फिलासफिक मैनुस्कृप्ट' में प्रकाशित हुआ। इसमें मार्क्स ने मनुष्य को इंद्रियलोलुप, सीमित एवं पीड़ित प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया है। मार्क्स व्यक्ति को नकार कर समाज की संस्थापना के पक्ष में नहीं है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, जिसे समाज का स्वबोधी अस्तित्व कहा जा सकता है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य का यह रूप न तो प्रत्ययवादी है न भौतिकवादी है, बल्कि इसमें दोनों का समन्वय है, जिसे 'पूर्ण प्रकृतिवाद अथवा मानववाद' कहा गया है। उसने अपनी प्रारंभिक कृतियों में मानव को स्वयं-साध्य माना है। इस दृष्टि से उसे प्रबोध-काल का बालक कहा गया है। मार्क्स के प्रारंभिक मानववाद और उसके बाद के दर्शन में सामंजस्य नहीं है। उनके मानववाद की जो दूसरी अवस्था है, उसके अनुसार पूंजीवाद मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है, उसको उपयोग की वस्तु या सामग्री बना देता है और मानवीय संबंधों को जाति-अभिबंध[8] (संबंध) में बदल देता है। मनुष्य को वह मानव-जाति के मूल में देखता है। अतः वह उसकी भौतिक स्थिति में सुधार चाहता है। इसीलिए वह समाज का आधार आर्थिक मानता है। आर्थिक ढांचे पर ही राजनीतिक और अन्य सिद्धांतवादी ढांचे आधारित हैं। वह यह भी मानता है कि वर्ग संघर्ष सदैव चलता रहता है और इस संघर्ष के फलस्वरूप एक ऐसी स्थिति आयेगी जिसमें मजदूर विद्रोह करेगा और क्रांति होगी तथा क्रांति के फलस्वरूप श्रमिकवर्ग विजयी होगा और 'सर्वहारा अधिनायकवाद' की स्थापना होगी। धीरे-धीरे राज्य टूटेंगे और एक वर्गविहीन, राज्यविहीन समाज का अभ्युदय होगा जिसमें सभी मनुष्य समान होंगे और इसका एकमात्र उद्देश्य इस समूची पृथ्वी पर मानवजाति का सुख होगा। इस प्रकार समाजवादी मानवषाद भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाता है। धर्म और अलौकिक को नकारने के बावजूद इसने समानता, स्वतंत्रता तथा विश्वबंधुत्व के मानवीय आदर्शों को स्वीकार किया।

8. Caste nexus.

अस्तित्ववादी मानववाद : एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण

समकालीन दर्शन में हमें ज्यांपॉल सार्त्र के दर्शन में मानव से संबद्ध क्रांतिकारी दृष्टि का परिचय मिलता है, जो हमें भारतीय दर्शन-विशेष रूप से सांख्य एवं वेदान्त का स्मरण कराती है। सार्त्र का मानववाद अपना वैशिष्ट्य रखता है।[9] वह किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की उपलब्धियों के आधार पर संपूर्ण जाति की-मनुष्य की श्रेष्ठता की बात नहीं करता। वह तो प्रत्येक मनुष्य की श्रेष्ठता की, निर्णय लेने की उसकी स्वतंत्रता की, बात करता है। अन्य शब्दों में सार्त्र कहते हैं कि व्यक्ति की चेतना निरंतर अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण करती रहती है, वह किसी भी स्थिति में अपने स्थायित्व की कल्पना नहीं कर सकती। वह अपने संपूर्ण अतीत का और वर्तमान का अतिक्रमण करती रहती है। अतिक्रामिता चेतना का विशेष लक्षण है। मनुष्य स्वयं यही अतिक्रामिता है। सार्त्र के अनुसार मानव के लिए उसकी मुक्त क्रियाओं से सर्जित जगत से भिन्न कोई दूसरा जगत नहीं है और यह मानवीय जगत मानव की विषयिता[10] का जगत है जिसमें कि मनुष्य निरंतर अपने व्यक्तित्व को व्यक्त तथा उन रूपों का अतिक्रमण करते हुए अपना सतत निर्माण करता रहता है। अतिक्रमण का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अपने समूचे व्यक्तित्व का अतिक्रमण करके किसी पारलौकिक सत्ता से जुड़ जाता है अथवा उसमें अपना विलय कर देता है। वह स्वयं अपने द्वारा सृजित किसी रूप से नहीं बंधता।[11] उसमें अनंत संभावनाएं हैं, जो कभी चुकती नहीं, निरंतर उसकी क्रियाओं में मुखर होती रहती हैं। अन्य शब्दों में मनुष्य का कोई स्थिर व्यक्तित्व नहीं है, वह एक तरलता है, जिसे उसके संकल्प से स्थापित होना है। सार्त्र के मानववाद का यही सच्चा अर्थ है क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य स्वयं अपना विधायक है, वह स्वयं अपने जीवन का निर्माता है। वह कभी अपने जीवन के पिछले पृष्ठों को नहीं पलटता, बस आगे से पृष्ठों को खोलता जाता है।

सार्त्र के अनुसार मानववाद की मुख्य समस्या ईश्वर के अस्तित्व की समस्या नहीं है। ईश्वर के विश्वास को कोष्ठीकृत करके ही सार्त्र मनुष्य-जीवन की अंतरंगता का स्पर्श करता है। मनुष्य अपने सभी क्रियाकलापों तथा अपने व्यक्तित्व के निर्माण के लिए स्वयं उत्तरदायी है — वह अपने को जैसा चाहे वैसा बना सकता है, कोई विजातीय तत्व उसमें कोई अवरोध या व्यवधान नहीं उत्पन्न कर सकता। अपने

9. सार्त्र के विशिष्ट मानववादी विचारों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए- सार्त्र, ज्यां पॉल, ह्युमैनिज़्म एण्ड ऐग्ज़िस्टेंशियालिज़्म, अनु० फिलिप मैरिट, लंदन : मेध्युन एण्ड कं०, लंदन, 1965
10. "Human Subjectivity".
11. इस प्रश्न पर कि सार्त्र की दृष्टि भारतीय दर्शन के कितनी निकट आती प्रतीत होती है, देखिये - मिश्रा, एस०, 'द एग्विश्ड फ्रीडम' दिल्ली, जी० के० डी० पब्लिकेशन, 1979

व्यक्तित्व को निर्मित करने का शतप्रतिशत दायित्व स्वयं मनुष्य का ही है। मनुष्य की क्रीड़ा का प्रांगण यही अलौकिक जगत् है। उसकी सुख शांति इसी संसार में विद्यमान है किसी अतींद्रिय, अलौकिक जगत् में नहीं। पर आत्म निर्भरता का यह एहसास त्रासपूर्ण है। मनुष्य इसलिए दुःखी रहता है कि उसके ऊपर अपने व्यक्तित्व के निर्माण का शतप्रतिशत दायित्व है।[12]

भारतीय दर्शन में मानववादी प्रवृत्ति

भारतीय चिंतन का एक लंबा इतिहास है, जो अपनी निरंतरता और दीर्घता के लिए संभवतः विश्व में अद्वितीय है। उस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भारतीय दर्शन में चिंतन और कर्म दोनों की प्रधानता रही है। कर्म पर यह जोर उसकी मानववादी दृष्टि का परिचायक है। यूं तो समस्त भारतीय दर्शन में एक व्यापक मानववादी दृष्टि देखने को मिलती है, जैसा कि वेदव्यास की इस उक्ति से विदित है: "गुह्य ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मनुष्याच्छेष्ठतरं हि किंचित्" अर्थात् मनुष्य सृष्टि के केंद्र में है, मनुष्य ही जीवन की हलचलों का मध्य-बिन्दु है। मनुष्य के लिए जो उपयोगी नहीं है, वह कार्य व्यर्थ है। जो प्रयत्न या आयोजन मनुष्य का उपकार न कर सके वह भारी बोझ है, जिससे समाज और व्यक्ति दोनों का गला घुटने लगता है।[13] किन्तु बौद्धदर्शन के अन्तर्गत जिस मानववादी दृष्टि का समावेश हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। संभवतः इसी अर्थ में बौद्ध दर्शन को समकालीन भारतीय दार्शनिकों के मानववादी दृष्टि का प्रेरक कहा जा सकता है-इसे आगामी पृष्ठों में स्पष्ट किया जायेगा।

बुद्ध संसार के महानतम चिंतकों में आते हैं। उनका विशेष बल चिंतन प्रक्रियाओं पर न होकर जीवन के प्रति एक सही दृष्टिकोण विकसित करने पर था। उनके उपदेश मुख्यतः मनुष्य और उसके जीवन की मूलभूत समस्याओं से संबद्ध थे जो उसके मानववादी विचारों को स्पष्टतः मुखरित करते हैं। अत. हम सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन में निहित मानववादी दृष्टि का निरूपण करेंगे।

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन की पृष्ठभूमि में वह अनुभूति है, जिसके कारण सिद्धार्थ बुद्ध कहलाये और जो बौद्धधर्म के लिए केन्द्रित है। यह धर्म शीघ्र ही भारत तक सीमित न रह कर भारत की सीमाओं का अतिक्रमण कर भारत के दक्षिण और समूचे पूरब को एकाकार करता हुआ उत्तर में तिब्बत तक छा गया और एक समय विश्व का सबसे बड़ा धर्म बन

12. मानववादी धारा की मूल प्रवृत्तियों की समवेत प्रस्तुति के लिए देखिये - लेमांट कार्लिस, द फिलासफी ऑव ह्युमैनिज़्म लंदन : इलेक बुक्स, 1958
13. गांधी, व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव (गांधी शतसंवत्सरी के उपलक्ष्य में प्रकाशित) संपादक - काका साहब कालेलकर आदि, नई दिल्ली : रास्ता, साहित्य मंडल : 1966, पृ० 513

बैठा। इसके इस व्यापक प्रचार-प्रसार एवं लोकप्रियता की पृष्ठभूमि में इसका अत्यन्त ही सहृदय मानववादी दृष्टिकोण था। गौतम बुद्ध ने संसार में सर्वत्र व्याप्त दुःख व पीड़ा का भली-भांति अनुभव किया और उसके कारण को जानने की चेष्टा की। उन्होंने यह महसूस किया कि दुःख, निराशा और मृत्यु मानव-जीवन के अनिवार्य तथ्य हैं, जन्म, रोग, बुढ़ापा आदि सभी दुःखद हैं। मानव की इस पीड़ा व वेदना ने गौतम बुद्ध को झकझोरा। फलस्वरूप उन्होंने तत्वमीमांसीय समस्याओं को अपने दर्शन का केन्द्र न बनाकर मानव-जीवन की मूल समस्या को चुना और उसके समाधान का प्रयास किया। उनका विश्वास था कि तत्वमीमांसीय विषयों -- आत्मा, ईश्वर और जगत अथवा धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों-पर विचार करना निरर्थक है। हम इनके व्यर्थ के झमेले में पड़कर जीवन-दर्शन की उपेक्षा कर बैठते हैं। संसार में अनेक धार्मिक और दार्शनिक संप्रदाय हैं। सभी की अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान और आत्मा के स्वरूप के विषय में विविध मतमतान्तर हैं। यदि नीतिसम्मत जीवन-शैली की तुलना में किसी धार्मिक और दार्शनिक मत को अधिक महत्व दिया जाए तो दुःख व पीड़ा के शमन का कार्य किस प्रकार सधेगा? अन्य शब्दों में, यदि हम अपनी जीवन-दृष्टि को न बदलें और समुचित साधना से तृष्णा को नियंत्रित न कर लें तो मानव के लिए दुःख वेदना से छुटकारा पाना संभव न होगा। मानवजाति के प्रति इस अतिशय करुणा के भाव से प्रेरित होने के कारण ही हम बुद्ध की दृष्टि को मानवीय धर्म कह सकते हैं। इसमें आचारशास्त्र को प्रमुख स्थान दिया गया है। भगवान बुद्ध के संदेश में हमें धर्म और नीति का अनूठा संगम देखने को मिलता है।[14] उनके अनुसार मनुष्य की सेवा में मानव-कल्याण के निमित्त विश्वजनीन कर्म करना ही मनुष्य का श्रेष्ठ धर्म है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेमभाव रखना बौद्ध दर्शन का एक आवश्यक अंग है।

बुद्धत्व की प्राप्ति के पश्चात् गौतम बुद्ध निरंतर लोक-कल्याणकारी बहुजनहितार्थ उपदेशों के प्रसारण में लगे रहे। अपने शिष्यों को उन्होंने आत्मानात्मा विवेचन के शास्त्रार्थ से विमुख कर मैत्री, करुणा आदि के भावों को जीने के लिए तथा उन्हें

14. "धर्म और नीति-एकीभूत हो गए थे। उस दिन एक राजा के पुत्र ने सब ऐश्वर्यों से युक्त भोग के जीवन को त्यागकर संन्यास ग्रहण किया था। उसके बाद दीर्घकाल तक कठोर साधना करके उन्होंने जो उपलब्धि की, उसी के कारण ये बुद्ध नाम के अधिकारी हुए। उसके बाद असाधारण मनीषा के बल पर जिन तत्वों के वे अधिकारी हुए थे, उनसे एक नूतन धर्म का प्रचार हुआ, जहां आर्तजनों की सेवा ने आचारानुष्ठान का स्थान ले लिया। संसार के ताप से दग्ध मनुष्य के मन के लिए वह वाणी शांति के प्रलेपस्वरूप हुई। उसमें जो सुधा निहित थी, उसने सहस्रों वर्षों तक भारत के नर-नारियों की पिपासा की तृप्ति की।"

. वंद्योपाध्याय, हिरण्मय, रवींद्र दर्शन, रूपांतरकार डॉ० अनिलवरण गंगोपाध्याय, दिल्ली : श्री भारती (प्रा०) लिमिडेड, 1965, पृ० 106

प्रसारित करने के लिए प्रेरित किया और स्वयं जीवन को धर्मार्थ भ्रमण और विचार में व्यतीत किया। यह सच है कि बुद्ध ने संसार को असार, क्षणिक व नाशवान बताया, किन्तु इससे उनके लोकहितार्थ किये हुए कार्य में कोई शिथिलता नहीं आई। योगी अरविन्द ने तो यहां तक कहा है कि संसार में भगवान बुद्ध के समान क्रियाशील पुरुष आज तक उत्पन्न ही नहीं हुआ है।[15]

जिस काल में बुद्ध का आविर्भाव हुआ वह दार्शनिक विवाद का युग था किन्तु संसार नित्य है या अनित्य, नाशवान् है अथवा अनन्त, जीव शरीर से भिन्न है या नहीं, तथागत रहते हैं या नहीं — इन सभी प्रश्नों के जाल में उलझने के बदले गौतम बुद्ध ने जीवन के उन्नयन की शिक्षा का प्रसार किया और मनुष्य की निजी शक्ति एवं सामर्थ्य पर भरपूर बल दिया। तत्कालीन धर्म तथा समाज व्यर्थ के कर्म-कांडों में फंसा हुआ था। बुद्ध ने सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों का निराकरण कर मनुष्यों को निष्प्रपंच, विवेकी तथा वीर बनने का उपदेश दिया।

बुद्ध के जीवन में ज्ञान और कर्म का उदात्त रूप देखने को मिलता है। उनका जीवन भारतीय संस्कृति के मूल स्वर के अनुरूप था। श्रीकृष्ण अद्भुत ज्ञानी होते हुए भी महान् कर्मयोगी थे। विश्व को बुद्धि बल से चमत्कृत करने वाले शंकराचार्य भी महान् योगी थे। हीनयान का आदर्श अर्हत् पद को प्राप्त करना था जिसे घोर तपस्या एवं अष्टांगिक मार्ग की साधना से प्राप्त किया जा सकता है। उनके महावाक्य 'आत्मदीपोभव' की यही सार्थकता है। पर महायान के अनुसार यदि अर्हत् वैयक्तिक निर्वाण का अभिलाषी है तो बोधिसत्व संपूर्ण जगत् के कल्याण की कामना रखता है। अन्य शब्दों में, भगवान् बुद्ध ने महायान के बोधिसत्व के आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ किया। उनका यह विश्वास था कि बोधिसत्व की संभावना प्रत्येक मनुष्य में विद्धमान रहती है और समयानुसार सभी बुद्ध हो सकते हैं। इसी संभावना को उद्दीप्त करने का उन्होंने आह्वान किया। यही प्राणिमात्र के प्रति उनके करुणा, दया और प्रेम के भाव को व्यक्त करता है। 'बोधिसत्व' के इस व्यापक महाकरुणा का आदर्श जीने वाला व्यक्ति कितना मानवीय हो सकता है, इसकी हम सभी कल्पना कर सकते हैं। मानववादी दृष्टि की इससे सशक्त अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है।

बौद्धदर्शन को इस अर्थ में भी मानववादी कह सकते हैं कि वह मानव-जीवन और उसके भाग्य का सृजन तथा नियंत्रण करने वाली किसी अलौकिक मानवेतर सत्ता का सर्वथा निषेध करता है। उसे एक प्रकार का अनुभवपरक दर्शन कहा जा सकता है। बुद्ध का कहना था : "कहा जाता है कि उस परम सत्ता ने हमारी सृष्टि की है। परन्तु

15. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद, भारतीय दर्शन, आगरा : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल : शिक्षा-साहित्य के प्रकाशक, 1967, पृ० 92

जो परम है वह कारण नहीं बन सकता। हमारे चारों ओर जो वस्तुएं हैं वे एक न एक कारण से उत्पन्न हुई है, जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है। परन्तु परम कैसे समान रूप से सब चीजों का कारण हो सकता है? यदि वह इन सब में व्याप्त है तो निश्चय ही वह इनका सृजन नहीं करता।"[16]

बुद्ध का दृढ़ विश्वास था कि जगत् के 'आदिकारण' का विचार मनुष्य की नैतिक प्रगति में बाधक है। इससे अकर्मण्यता एवं अनुत्तरदायिता रूपी दुर्गुणों को प्रात्सोहन मिलता है। यदि ईश्वर की सत्ता है तो उसे संसार में होने वाले हर कार्य अच्छा या बूरा-का एकमात्र कारण मानना होगा और उस स्थिति में मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता नष्ट हो जाएगी। यदि वह दुश्चरित्रता से घृणा करता है और पाप का स्रष्टा होना स्वीकार नहीं करता, तो वह सार्वभौम नहीं हो सकता। और यदि उसकी कृपा द्वारा एक पापी भी क्षण मात्र में महात्मा बन सकता है : तो मनुष्य स्वेच्छा से धार्मिक एवं नैतिक जीवन व्यतीत करने की इच्छा के प्रति यदि उदासीन हो जाय तो कुछ आश्चर्य न होगा। यही कारण है कि बुद्ध ने अपने जीवनदर्शन में अपने को इसी संसार तक सीमित रखना उचित समझा। उन्होंने किसी अलौकिक सत्ता को स्वीकार नहीं किया। इसीलिए उनके विचार आधुनिक वैज्ञानिकों के समकक्ष प्रतीत होते हैं, जिन्हें प्राकृतिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या के निमित्त किसी अलौकिक हस्तक्षेप की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। सही वैज्ञानिक रीति का आश्रय लेने पर न तो बिजली के प्रकाश में किसी देवता का हाथ दिखाई देता है और न ही अंतरिक्ष में कहीं देवदूतों का पता मिलता है।[17] यही कारण है कि घटनाओं की बुद्धिपरक व्याख्या में ईश्वर की कल्पना नितांत असंगत प्रतीत होती है और नैतिक जीवन के लिए भी उतनी ही निरर्थक।

दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में बुद्ध ने कार्यकारण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है — यह बौद्ध दर्शन का केंद्रीय सिद्धांत है। इसके अनुसार संसार में जो कुछ भी होता है, वह सब सुसंबद्ध है — अकस्मात् कुछ नहीं होता — समस्त घटनाओं की पृष्ठभूमि में कार्य-कारण की अटूट श्रृंखला विद्यमान है और अविद्धा ही समस्त दुःखों का मूल है। संयुक्त निकाय में कहा गया है कि जिस प्रकार कूटागार में समस्त वंश (बांस) मुख्य वंश में सान्निध्य प्राप्त करते हैं और मिलते हैं उसी प्रकार समस्त कुभावनाओं का मूल अविद्या है।[18] जैसा पहले कहा जा चुका है,

16. कारुसादि गास्पेल ऑफ बुद्धा, 23, के० दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, पृ० अनु० जी० श्रीधरन, दिल्ली : पीपुल्य पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०, 1982, पृ० 124

17. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, खंड - 1, अनु० नंदकिशोर गोभिल विद्यालंकार : दिल्ली : राजपाल एण्ड संस, 1972, पृ० 418

18. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद भारतीय दर्शन, पृ० 91 से उद्धृत।

दुःखों से निवृत्ति के निमित्त अष्टांगिक मार्ग[19] का विधान है। इस मार्ग का अनुगमन करने से समस्त दुःखों का अंत संभव है, जिससे दुःखातीत अवस्था का आविर्भाव होता है। इसी अवस्था को अन्य दर्शनों में निर्वाण की संज्ञा दी गई है। यह दुःख-सुख से परे ताटस्थ्य की अवस्था है। इसे परमशांति की अवस्था भी कहते हैं और इसकी प्राप्ति संसार के बाहर नहीं, संसार के भीतर ही संभव है। इस प्रकार बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट मार्ग इस यथार्थ जीवित जगत् में ही दुःख और पीड़ा से मुक्त होने का मार्ग है, जीवन से परे किसी दूसरी जगत में मुक्त होने का नहीं। मानववाद का इससे मुखर रूप और क्या हो सकता है? इसी अर्थ में जैन दर्शन भी मानववादी है, क्योंकि वह भी अनीश्वरवादी दर्शन है और बुद्ध की स्थिति को 'कैवल्य' कहता है तथा उसमें उसकी प्राप्ति हेतु 'रत्नत्रय' का विधान है। अतः इस दर्शन में जो मूलतः धर्म ही है कैवल्य के साक्षात्कार हेतु मनुष्य के कर्म पर ही विशेष जोर दिया गया है जिसके कारण उसे मानववादी विचारधारा में सम्मिलित किया जाता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कर्म पर जोर बौद्ध दर्शन की भी अन्यतम विशेषता है यह जीवन का नियामक सूत्र है। बुद्ध के अनुसार मनुष्य जैसा कर्म करता है तदनुसार फल का भोग करता है। अच्छाई से अच्छाई की उत्पत्ति होती है और बुराई से बुराई की। बुद्ध के अनुसार यही कर्म का सर्वव्यापक नियम है, जो समान रूप से सभी प्राणियों पर लागू होता है। इसीलिए वे सर्वत्र अपनी शिक्षाओं और उपदेशों के माध्यम से मनुष्यों को सचेत करते रहे कि अपने भाग्य के निर्माण का शतप्रतिशत दायित्व स्वयं मनुष्य पर ही है, किसी ईश्वर या देवी, देवता पर नहीं। वस्तुतः प्रत्येक घटना का अपना एक नियम होता है। अच्छे, नैतिक कर्म सदैव अच्छे परिणामों पर पहुंचाते हैं। कर्म के इस व्यापक नियम को किसी भी प्रकार के देवी-देवता या ईश्वर की प्रार्थना द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अन्य शब्दों में, मनुष्य जो कुछ भी है, वह अपने कर्म के ही कारण है-वह अपने भविष्य का निर्माता भी स्वयं ही है क्योंकि उसके कर्म उसी के अधीन हैं वह कर्म के अधीन नहीं है। मज्झिमनिकाय में कहा गया है कि "जीव अपने कर्मों का स्वामी है, अपने कर्मों का उत्तराधिकारी है, कर्म ही आधार है, कर्म ही उनकी संतुति है, और अपने कर्मों से ही उनकी स्थिति है।[20] कर्म की महत्ता का संदेश मनुष्य में आशा व उत्साह का संचार करता है। इस अर्थ में बौद्धदर्शन अतिशय आशावादी दर्शन है।

19. अष्टंगिक मार्ग निम्नलिखित हैं —
    (1) प्रज्ञा — (1) सम्यक् दृष्टि, (2) सम्यक् संकल्प
    (2) शील — (3) सम्यक् वचन सम्यक् (4) कर्मान्त
    (5) सम्यक् आजीव (6) सम्यक् व्यायाम
    (3) समाधि — (7) सम्यक् स्मृति, (8) सम्यक् समाधि
    बौद्ध धर्म में प्रज्ञा, शील और समाधि को 'त्रिरत्न' कहा गया है।
20. मज्झिमनिकाय 3/203, द्विवेदी, पारसनाथ, भारतीय दर्शन, आगरा, : श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, 1973, पृ० 81 से उद्धृत।

निष्कर्षतः यह कहा सकता है कि बुद्ध ने मानव-मात्र के समक्ष जीवन को पवित्र और तेजस्वी बनाने की बात कर एक ऐसा विराट् नीति-मार्ग प्रस्तुत किया जो एक ओर वैयक्तिक जीवन को परिपुष्ट करता है तो दूसरी ओर मानव-एकता और शांति का मार्ग भी दृढ़ करता है।

बुद्ध ने मनुष्य के मूल्यांकन को जन्म से नहीं, कर्म से करने की बात की। धम्मपद के अनुसार "मैं किसी व्यक्ति को उसके कुल के कारण, ब्राह्मण नहीं कहता हूं। वह तो वास्तव में घमंडी और धनाढ्य होता है। किन्तु मैं उस व्यक्ति को जो निर्धन होता है, जो सभी लिप्साओं से मुक्त होता है, ब्राह्मण कहता हूँ।" और भी : "मैं निस्संदेह उसे ब्राह्मण कहता हूं जिसका ज्ञान गंभीर होता है, जो बुद्धिमान होता है और जिसमें अच्छे मार्ग और बुरे मार्ग का विवेक होता है तथा जो उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।"[21]

इस प्रकार बुद्ध ने मानव व्यक्तित्व की उत्कृष्टता पर तथा मानवीय समता पर विशेष बल दिया। उनका लक्ष्य समस्त संसार को भेदभावों से मुक्त कर एक व्यापाक संघ-जीवन का निर्माण करना था। वे दीन-हीन, दलितों तथा शोषितों के प्रति सहृदय थे तथा सभी प्रकार की सामाजिक असमानताओं को वृथा समझते थे। वे मानव की उन्नत आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील थे और उनकी स्थापना के लिए उनका सतत् आह्वान था। इस अर्थ में उनका एक प्रगतिशील तथा मानववादी दृष्टिकोण था और उसका सामयिक ही नहीं अपितु सार्वभौम महत्व है। यही कारण है कि आज के भारतवर्ष ही में नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में इस दर्शन के प्रति सहज रुचि जगी है। इसकी शाश्वत महत्ता से इनका नहीं किया सकता।

समकालीन मानववादी विचारधारा

भारतीय दर्शन के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी नव-जागरण का युग है इसके तीसरे दशक को आधुनिक दर्शन का प्रारंभ माना जाता है। भारतीय दर्शन की महत्ता का एहसास पश्चिमी जगत् को उस समय हुआ जब कवि गेटे एवं शोपेनहावर ने वेदांत की सार्थकता पर बल दिया। इस युग के पूर्व लगभग दो शताब्दियों से भारतीय दर्शन, धर्म और समाज का पतन हो चुका था। आधुनिक भारतीय दर्शन का प्रारंभ राजा राममोहन राय से होता है। वे भारतीय नव-जागरण के सजग प्रहरी थे।

राजा राममोहन राय भारत में राष्ट्रीय पत्रकारिता के संस्थापक थे। उन्होंने 1821 में बंगाली पत्रिका 'संवाद कौमुदी' और 1822 में फारसी अखवार 'अल अकबर' की स्थापना की। ये दोनों ही पत्रिकाएं राष्ट्रीय नव-जागरण की संदेशवाहक थीं। इन पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने समाज में व्याप्त जाति-प्रथा, मूर्ति-पूजा, पशु-बलि आदि

21. दामोदरन् के०, भारतीय चिंतन परंपरा, पृ० 127 से उद्धृत।

के विरुद्ध सशक्त आंदोलन चलाया। उनकी दृष्टि अतिशय मानववादी थी – उनके हृदय में उत्पीड़न की व्यथा को समझने की सहज संवेदनशीलता थी। सती प्रथा एक निर्मम मध्ययुगीन प्रथा थी। वह देश के कुछ भागों में उस समय भी प्रचलित थी। स्वयं राममोहन राय को अपने भाई की चिता में अपनी भावज के जलकर मरने का हृदय विदारक दृश्य देखने के लिए बाध्य होना पड़ा था। उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त भयंकर कुरीति के विरुद्ध आवाज उठाई और अंततः अथक प्रयासों एवं संघर्षों के द्वारा वे इस बर्बर प्रथा के उन्मूलन में सफल हुए। उनका यह कार्य उनके व्यक्तित्व की उदात्तता का परिचायक है। भारतीय समाज को राजा राममोहन राय का सबसे बड़ा योगदान था ब्रह्म समाज की स्थापना। इसके द्वारा उन्होंने भारतीय धर्म एवं समाज को नवीन दिशा दी, उसे रुढ़ियों से मुक्त करने की कोशिश की, क्योंकि ब्रह्मसमाज का उद्देश्य मूलतः धार्मिक तथा सामाजिक सुधार को बल देना था। उसने मूर्तिपूजा, छुआछूत, जातिप्रथा और धार्मिक कट्टरता का विरोध और विधवाओं के पुनर्विवाह तथा अंतर्जातीय विवाहों का समर्थन किया। इस प्रकार अवरुद्ध चेतना को उन्मुक्त करके उसे नई स्फूर्ति से भरने का उनका यह प्रयास अपनी सम-सामयिक महत्ता तो रखता ही था, उसने भारतीय जन-मानस को जिस प्रकार नए युग के आविर्भाव के लिए तैयार किया वह श्लाघनीय था, उसने रामकृष्ण-विवेकानंद-युग के आविर्भाव के लिए उपयुक्त भावभूमि तैयार की। ब्रह्म समाज की स्थापना एक सृजनात्मक प्रयास था जिसकी दार्शनिक अवधारणा में दो स्वीकृतियां प्रमुख थीं एक, ईश्वर एक है और दूसरी, सभी समान हैं। उनमें बंधुभाव स्थापित होना चाहिए। इस विश्वास से सामाजिक कुप्रथाओं व कुरीतियों का विनाश तथा हिंदू रुढ़िवादियों द्वारा उत्थापित संकीर्णतापूर्ण भेदभावों के अतिक्रमण में सहायता मिली। साथ ही उसने धर्म-समन्वय की दिशा में हमें आगे बढ़ाया। इस प्रकार ब्रह्मसमाज केवल एक धार्मिक सुधार आंदोलन नहीं था, उसने भारतीय जन-मानस को नया जीवन नई दृष्टि प्रदान की। इसी काल में केशवचंद्र सेन, देवेंद्रनाथ टैगोर, स्वामी रामकृष्ण परमहंस आदि आते हैं। इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शन वे संस्कृति में समन्वय स्थापित करना थी। रामकृष्ण परमहंस महान् संत थे और उन्होंने धार्मिक अनुभूति के लक्ष्य के आधार पर सभी धर्मों की एकता का समर्थन किया। मैत्रीभाव की दिशा में धर्म के स्तर पर यह एक महत्वपूर्ण कदम था। उन्होंने सभी देशों और सभी धर्मों के लोगों के प्रति सम्मान एवं प्रेम की भावना को महत्वपूर्ण माना क्योंकि इससे परस्पर सद्भावना में अभिवृद्धि होती है। इसी काल में वेदांत के महान् पंडित निश्चलदास का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने 'विचार-सागर' और 'वृत्ति प्रभाकर' नामक सारगर्भित ग्रंथों का सृजन हिंदी भाषा में किया। यही वह समय था जब मैक्समूलर ने अपनी महान् पुस्तक 'इंडिया ह्वाट इट कैन टीच अस' की रचना की और 'सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' की शृंखला में इकतीस ग्रंथ का संपादन किया।

इसी युग में स्वामी दयानंद का आविर्भाव हुआ। इस युग के उत्तर काल में स्वामी विवेकानंद, स्वामी अभेदानंद, स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी श्रद्धानंद आदि का आविर्भाव हुआ। इन मनीषियों ने अपने अनुपम प्रयत्नों से हिंदू धर्म में व्याप्त संकीर्णता, कुंठा, निराशा तथा अंधविश्वासों को दूर हटाकर भारतीय धर्म एवं संस्कृति को पुनः संस्थापित किया। इनके प्रभाव से बाल-विवाह, बहुविवाह, बेमेलविवाह, छुआछूत, जात-पात आदि की कुरीतियों को दूर करने के लिए कई महत्वपूर्ण प्रयास हुए, जिसमें ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज की अहम् भूमिका थी। आर्यसमाज की स्थापना स्वामी दयानंद सरस्वती ने की। उन्होंने वेदों का प्रचार-प्रसार किया और उन पर नया भाष्य लिखा जिसके प्रभाव से भारत में वेदों का वैज्ञानिक अनुशीलन आरंभ हुआ। इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि स्वामी विवेकानंद का आविर्भाव है। उनके अद्भुत व्यक्तित्व में अप्रतिम सक्रियता थी जिसका स्रोत उनके परम गुरु, सिद्ध पुरुष रामकृष्ण परमहंस थे। गुरु-शिष्य के व्यक्तित्वों में इतना अपूर्व तादात्म्य विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। इस संदर्भ में रामकृष्ण परमहंस के अप्रतिम व्यक्तित्व एवं उसके मंगलकारी प्रभाव की चर्चा करते हुए डॉ० सक्सेना कहती हैं : "अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व उनके आकर्षण का एहसास कर उनके प्रति समर्पित हो गए, पर रामकृष्ण की जीवनधारा भागीरथी की पावन धारा के समान सबको निर्मल करती हुई, सबको निरभिमानी करती हुई युग की अनेक तत्कालीन और जीवन की शाश्वत समस्याओं की गांठों को सहज खोलती हुई, अपने प्रिय शिष्य नरेंद्र के व्यक्तित्व में समा गई ताकि लोक-कल्याण के जिस कार्य को उन्होंने प्रारंभ किया था, वह उनके माध्यम से इस प्रकार संपन्न हो कि विश्व उसके प्रभाव को आसानी से भूल न सके।"[22] स्वामी विवेकानंद श्रीरामकृष्ण देव की शक्ति से आप्लावित थे। इसलिए अपने गुरु के संदेश को उन्होंने अपनी वाणी द्वारा अपूर्व पारदर्शिता के साथ व्यक्त किया है। उनके सर्वधर्म समभाव तथा नर में नारायण की उपस्थिति के भाव को स्वामी विवेकानंद द्वारा इतनी सशक्त अभिव्यक्ति मिली कि वह इस युग के मूल मंत्र के रूप में स्वीकृत हो गया। अद्वैत वेदान्त के लिये उनके हृदय में विशेष आकर्षण था क्योंकि उनका विश्वास था कि अद्वैत ही पूर्णतः वैज्ञानिक धर्म है। उन्होंने शंकराचार्य की तत्वमीमांसा को स्वीकार करते हुए उनके वेदांत को नई दिशा दी। उनके ज्ञानमार्ग में कर्मयोग तथा भक्ति को समन्वित कर उसे सामान्य जन के लिए जीने योग्य बना दिया। हिंदू धर्म के लोककल्याणकारी दृष्टिकोण का उन्होंने सशक्त प्रसारण किया। इतना ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में उन्होंने भारतीय धर्मदर्शन के सनातन स्वरूप की जो वैज्ञानिक व्याख्या प्रसारित की उससे समूचा संसार चमत्कृत हो गया। इसके परिणामस्वरूप एक ओर

22. सक्सेना, लक्ष्मी, आधुनिक भारत के युगप्रवर्तक संत, पटना : बिहार ग्रंथ कुटीर प्रकाशन, 1979 पृ० 1

भारत के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान को विश्व के स्तर पर सम्मान मिला तो दूसरी ओर निराश, संत्रस्त, अपमानित और लुंज-पुंज भारतीय जनमानस को आत्म-गौरव मिला। उनके प्रयास द्वारा एक ऐसी मानववादी दृष्टि प्रसारित हुई जो सामयिक थी और इसलिए सार्थक भी।

राजा राममोहन राय से लेकर स्वामी विवेकानंद पर्यंत आधुनिक भारतीय दर्शन का लगभग एक शताब्दी का काल है। इसके बाद के काल में कुछ ऐसे विचारक आते हैं जो राष्ट्र की अस्मिता को बनाये रखने के भाव से ओत-प्रोत हैं और इन लोगों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में एक अहम् भूमिका अदा की। यों तो ऐसे कर्मठ विचारकों, सेनानियों की एक लंबी सेना है, किन्तु प्रतिनिधि-विचारक एवं युगस्रष्टा के रूप में महात्मा गांधी को स्वीकार किया जा सकता है। यह बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध वस्तुतः गांधी युग कहा जा सकता है। पाश्चात्य दर्शन एवं संस्कृति के प्रति विद्रोह तथा भारतीय जीवनदृष्टि का व्यापक विकास, प्रचार एवं प्रसार इस युग की प्रमुख वृत्ति रही है। अफ्रीका में जातिवादी गोरी सरकार के शासन में प्रवासी भारतीयों की दुर्दशा को देखकर गांधी को गहरा आघात पहुंचा, फलस्वरूप वे राजनीतिक जीवन में कूद पड़े और इस क्षेत्र में उन्होंने अपनी नीति और धर्म का भरपूर प्रयोग किया। वहां जातिभेद की नीति के विरुद्ध लम्बे संघर्ष के परिणाम स्वरूप गांधी की प्रसिद्धि दक्षिण अफ्रीका की सीमाओं का अतिक्रमण कर दूर-दूर तक फैल गई। अफ्रीका से तपे-तपाए गांधी भारत में लौटते ही लोकनायक बन गए। भारत की जनता ने उन्हें महात्मा गांधी कह कर संबोधित किया। उन्होंने कांग्रेस का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। किसी भी राष्ट्रीय नेता की अपेक्षा गांधी आम जनता की शक्ति और जागरूकता के प्रति अधिक सजग थे, जनता के प्रति उनके हृदय में गहरी आस्था थी। 'इसीलिए वे आम जनता के निकट संपर्क' के आकांक्षी थे। इस निकटता के कारण उनमें आम जनता को भली-भांति समझने की अद्‌भुत शक्ति थी। उनमें भारतीय दर्शन और धर्म के सिद्धांतों को सार्वभौम रूप देने की अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने सभी धर्मों के प्रति समभाव का प्रचार किया, जिसका ज्वलंत प्रमाण उनकी प्रार्थना-सभाएं हैं। लोककल्याण अथवा परोपकार के लिए किए गए प्रत्येक कर्म को गांधी ने 'यज्ञ' कहकर यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप को प्रसारित किया। उन्होंने देश को शताब्दियों की दासता से मुक्त कर मनुष्य को उसके जन्मसिद्ध अधिकार, स्वतंत्रता से विभूषित किया। वस्तुतः गांधी का दर्शन सर्वोदय दर्शन है-सत्याग्रह का दर्शन है-विश्वमानव का दर्शन है। उन्होंने सत्य और अहिंसा के आधार पर अन्य नवीन नैतिक मूल्यों की स्थापना कर अपनी आध्यात्मिक साधना से विश्व को चमत्कृत कर दिया।

गांधी के अनुसार संसार के वैविध्य में अंतर्भूत मूल सत्ता ही सत्य है-सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य का अस्तित्व नहीं है गांधी की उपनिषद् के इस वाक्य में पूरी आस्था थी: "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्" — अर्थात् इस संसार में जो

कुछ भी है, सब ईश्वरमय है, और इसी विचार ने उन्हें भीतर ही भीतर सभी से युक्त कर दिया। उनका स्पष्ट एवं दृढ़ विश्वास था कि ईश्वर को मानव में ही प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए उन्होंने जनसेवा के मार्ग का वरण किया। उन्होंने लिखा था: "मैं अपनी जनता की जो सेवा करता हूं वह उस अनुशासन का एक हिस्सा है, जिसके जरिये मैं अपनी आत्मा को शारीरिक बंधनों से मुक्त करने का प्रयास करता हूं। मेरे लिए मोक्ष का रास्ता मानव के प्रेम से होकर है। मैं हर उस चीज से अपना तादात्म्य करना चाहता हूं, जो जीवनमय है।"[23] इस विश्वास को सामने रखकर उन्होंने ईश्वर को व्यक्ति और समाज के संबंधों को सुनियंत्रित करने वाले नैतिक सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया।

गांधी ने प्रेम तथा अहिंसा को नैतिकता के सर्वोत्कृष्ट मूल्य के रूप में प्रतिपादित किया क्योंकि उनके अनुसार सत्य का पूर्ण दर्शन अहिंसात्मक जीवन शैली द्वारा ही संभव है। किन्तु अहिंसा एक निषेधात्मक सिद्धांत मात्र नहीं बल्कि बुराइयों का अहिंसात्मक रूप से प्रतिरोध करने का सिद्धांत है और सत्याग्रह बुराई के विरुद्ध प्रतिरोध की तकनीक है। अहिंसा का भावात्मक अर्थ - प्राणिमात्र से प्रेम है। अतः सत्य, अहिंसा और प्रेम गांधी दर्शन में नैतिकता के मुख्य मूल्य हैं। उनकी दृष्टि में नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के निमित्त ये मूल्य महत्वपूर्ण हैं।

गांधी स्वामी विवेकानंद की भांति विश्व बंधुत्व के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने न केवल भारतीय चिंतन को एक नवीन समाज-दर्शन दिया बल्कि पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ उसे क्रियान्वित किया। उनका सृजनात्मक कार्यक्रम भारत के नव-निर्माण के लिए उनकी महत्वपूर्ण देन है, जो कि उनके मानवीय विचारों को उजागर करता है। खादी और ग्रामोद्योग, साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता निवारण, शराबबंदी बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़शिक्षा ग्रामसुधार, चर्खा, खादी, गो-सेवा, कुष्ट रोगियों की सेवा आदि उनके कार्यक्रम के मुख्य अंग थे।

गांधी युग में ही रवींद्रनाथ टैगोर कुछ इने-गिने भारतीय मनीषियों में से हैं, जिन्होंने पश्चिम के बुद्धिजीवियों को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से अभिभूत किया। उन्होंने पूर्व की सांस्कृतिक विरासत में लोगों की आस्था जगाई और भारतीय राष्ट्रीयता के आधार को सुदृढ़ और व्यापक बनाया। इनकी सुप्रसिद्ध रचना 'गीतांजलि' पर भारत को नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। कवि, कलाकार, दार्शनिक तथा स्वतंत्रता के संदेशवाहक रवींद्र भारतीय संस्कृति के असाधारण समर्थक हैं। उनकी 'गीतांजलि' वेदांत की दार्शनिक गंभीरताओं से भरपूर है। इसमें उन्होंने अद्‌वैत, निर्गुण, निराकार सच्चिदानंद का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह अनुपम व अपूर्व है। पाठक उनके

23. यंग इंडिया : 4 अप्रैल, 1920

काव्यबिंबों में निहित दार्शनिक गहराई की प्रस्तुति से आत्मविभोर हो उठता है। उन्होंने 'गीतांजलि' के छंदों में नारायण को नर होने के लिए विवश कर दिया है-यह मानव गरिमा की एक सशक्त अभिव्यक्ति है।

टैगोर के जीवन-दर्शन के प्रमुख निर्धारक तत्वों में उपनिषदों के स्थायी प्रभाव के साथ ही बौद्ध धर्म की अहम् भूमिका रही है। वस्तुतः सुदूर-पूर्व के देशों की यात्रा के पश्चात् एशिया की सांस्कृतिक एकता में बौद्ध धर्म के मूल स्वरों की गहरी छाप रवींद्र पर पड़ी। उनका स्पष्ट विचार था कि बौद्ध धर्म की मैत्री-भावना, उसकी करुणा और दया, तथा बुद्ध के विश्व-प्रेम में मानव-मानव के बीच की दीवारों को ढहाने तथा विश्वबंधुत्व का बीजारोपण करने की अपूर्व शक्ति है। टैगोर ने भारत की प्राचीन विचारधारा एवं परपंराओं में जो कुछ भी श्रेष्ठतम था, उसे अपनाकर अपनी अनुपम मानववादी दृष्टि को अपनी कृतियों में रूपायित किया। अन्य अध्यात्मवादी दार्शनिकों की भांति वे इस पार्थिव संसार की पृष्ठभूमि में विद्यमान परम सत्ता में विश्वास करते थे। किन्तु टैगोर के लिए यह सत्ता नैतिक तथा सौन्दर्यपरक अनुभूतियों में ही अधिक सशक्त रूप से अभिव्यक्त है। उनके अनुसार यह सत्ता एक व्यक्तिगत सत्ता है जो अपनी अनंत अपरिमित अभिव्यक्तियों में मानव व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। टैगोर के दर्शन का केंद्र बिंदु ईश्वर नहीं मनुष्य है क्योंकि वह मानव में ही व्यक्त होता है। उनके लिए ईश्वर मानवीय व्यक्तित्व की उदात्तता का श्रेष्ठतम प्रतीक है जिसकी उपलब्धि मानव-प्रेम एवं करुणा द्वारा ही संभव है। इस प्रकार टैगोर के दर्शन में ईश्वर के प्रति प्रेम को जीवन की साधना को मानव के प्रति प्रेम में रूपांतरित कर दिया गया है। टैगोर के इस विचार में हमें विवेकानंद के विचारों की ही गूंज मिलती है - उनका युग के आविर्भाव में 'नर-नारायण' का उद्घोष गांधी और टैगोर दोनों ही के विचारों में मिलता है। स्पष्ट है कि दोनों ने अपने तरीके से युग के केंद्रीय भाव को मुखर किया और भारत के विस्तृत सम्मान की रक्षा की।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रवींद्र की चिंतनधारा मानववादी दृष्टि का एक अनूठा रूप प्रस्तुत करती है। वह ईश्वर में उसकी जीवंत आस्था में फूंटती है और जीवन अनगिनत रूपों में उसके स्पर्श से आलोकित हो सार्थक हो जाता है। इस स्पर्श के कारण उनकी मानववादी दृष्टि पाश्चात्य मानववादी दृष्टि से अधिक उदात्त प्रतीत होती है। भारत की सनातन अध्यात्मवादी परंपरा को टैगोर ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह श्लाघनीय है। उसमें सर्जनात्मक जीवन और धर्म एक-दूसरे के पर्याय हो गए हैं।

समूचा समकालीन भारतीय दर्शन सचमुच वेदांत से प्रभावित है - चाहे विवेकानंद हों, चाहे गांधी हों या टैगोर। इसमें भौतिकवादी दृष्टि, जिसका प्रतिनिधित्व चार्वाक दर्शन करता है, की उपेक्षा मिलती है। ऐसा लगता है कि भौतिकवादी दृष्टि मनुष्य की

आध्यात्मिक आकांक्षाओं के साथ न्याय करने में सर्वथा अक्षम है। भौतिकवादी दृष्टि आध्यात्मिक आकांक्षाओं के साथ न्याय कर सकती है-इस विश्वास के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं मानवेंद्रनाथ राय। यद्यपि प्रारंभ में वे मार्क्सवादी भौतिकवाद से प्रभावित थे तथापि उन्होंने एक ऐसी बुद्धिवादी दृष्टि का प्रसारण किया जो अन्त में साम्यवाद का विरोधी बन बैठा। उन्होंने भारतीय प्रत्ययवादी और अध्यात्मवादी विचारधाराओं के खंडन के पश्चात् अपनी मानववादी दृष्टि को प्रतिष्ठित किया। उनकी मोक्ष, धर्म, ईश्वर या इस भौतिक जगत् से परे किसी शक्ति पर आस्था न थी। उनकी इसी जगत् में निरंतर विकासोन्मुख मनुष्य की शक्ति और सामर्थ्य में पूर्ण आस्था थी। अतः उसी के आधार पर वे समाज के निर्माण की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार समीक्षात्मक और परिकल्पनात्मक दर्शन मनुष्य के वास्तविक जीवन से असंबद्घ होने के कारण मानव-समाज के पुनर्निर्माण में कोई रचनात्मक योगदान नहीं दे सकते और वस्तुतः 'सच्चा दर्शन वही है जो मनुष्य जीवन की वास्तविकता से जुड़ा हो जिसमें मनुष्य की उन्नत आकांक्षाएं और भावनाएं रूपायित होती हों और जिसके द्वारा मानव के पूर्ण अभ्युदयकारी नूतन समाज की रचना संभव हो सके। ऐसे समाज-दर्शन के रूप में उन्होंने अपने वैज्ञानिक मानववाद को प्रस्तुत किया। उनका स्पष्ट विचार है कि समाज के किसी प्रकार के भी पुनर्गठन या पुनर्व्यवस्था का कार्य उसकी मूल इकाई यानी व्यक्ति से आरंभ होना चाहिए। इस स्वीकृति के आधार पर ही हम मानव के साथ उसकी प्रकृति तथा उसकी उन्नत आकांक्षाओं के साथ न्याय कर सकते हैं और एक ऐसे समाज की रचना कर सकते हैं जो उसके लिए अनुकूल हो और क्योंकि हम समाज की न्यूनतम इकाई, मनुष्य से इस दर्शन का आरंभ करते हैं, इसलिए इस दृष्टकोण को हम किसी एक राष्ट्र, संप्रदाय अथवा वर्ग आदि तक नहीं सीमित रख सकते। उसका संबंध तो 'मानव' से है जो पूरे समाज की मूल इकाई है और जो मूलतः स्वतंत्र है और जिसकी स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ है व्यक्ति की स्वतंत्रता-अंततः सभी मनुष्यों की स्वतंत्रता। इसीलिए इस विचार-शैली को उन्होंने नव्य मानववाद की संज्ञा दी है-'नव्य' इसलिए कि वह परंपरागत दृष्टि से भिन्न है और अधिक व्यापक दृष्टि का प्रसारण करती है, जिसमें वह सभी सम्मिलित है, जिसे आज हम मानव की उपलब्धि कह सकते हैं। वह सभी कुछ जो आदिकाल से लेकर आज तक सभ्यता के रूप में छाया है विज्ञान तथा सामाजिक अनुभवों की सहायता से जितना अपनी संवदेनशीलता को ऊंचा उठाया है, अपने ज्ञान के भंडार को जितना अधिक भरा है, अपनी स्वतंत्रता की बाधाओं को जिस प्रकार दूर किया है और इस प्रकार स्वतंत्रता-जो मानव की मूल प्रवृत्ति है-की दिशा में जितने पग आगे बढ़ा है, वह सब राय के अनुसार मानव की उपलब्धि है और आगे भी जो कुछ उसे मिलेगा उसी की सिद्धि होगी।[24]

24. राय, एम०एन०, न्यू ह्युमैनिज़्म ए मैनिफेस्टो, दिल्ली : अजंता पब्लिकेशन, 1981, पृ० 36-37

राय ऐसे समाज-दर्शन में विश्वास रखते हैं, जिसका संबंध मूल रूप में व्यक्ति से है और जिसमें सामाजिक प्रगति का मापदंड अंततः व्यक्ति ही का विकास है। अन्य शब्दों में, उनके अनुसार व्यक्ति की प्रगति के द्वारा ही सामाजिक प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस प्रकार गांधी - जैसे ईश्वरवादी न होते हुए भी मानवेंद्रनाथ राय स्वतंत्रता और समता का जैसा समन्वय प्रस्तुत करते हैं, वह गांधी से किसी अर्थ में कम नहीं है।

स्पष्ट है कि राय ने परंपरागत तात्विक चिंतन की अपेक्षा नीतिमीमांसा पर अधिक जोर दिया जिसमें मानवीय प्रतिष्ठा और मूल्यों पर बल देने के साथ इस बात के लिए भी आग्रह किया कि मनुष्य को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वह अपने को पशुओं से भिन्न कर सके और स्वयं में निहित मानवीयता को व्यक्त करने में सक्षम हो सके। समकालीन भारतीय चिंतन अतीतोन्मुख रहा है, क्योंकि वह उपनिषदों पर आधारित है। इसकी संपुष्टि हमें विवेकानंद, गांधी तथा टैगोर की चिंतनधाराओं में मिलती है। भौतिकवादी मानवेंद्रनाथ राय भी अपनी विचारधारा के मूल स्रोत के लिए उपनिषदों की ओर संकेत करते हैं। स्वसंवेद उपनिषद, सूत्र-2 से उद्धृत करते हुए राय भौतिकवादी विचारधारा का सार निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत करते हैं —

"कोई अवतार नहीं होता; न ईश्वर है, न स्वर्ग है और न नरक; समस्त पारंपरिक धर्मशास्त्र का साहित्य दंभी मूर्खों की रचना है... पुष्पित वाक्यों से भ्रमित जन देव-मंदिरों तथा पुजारियों में आस्था रखते हैं, जबकि वस्तुतः विष्णु और स्वान में कोई अंतर नहीं है।"[25]

समकालीन भारतीय चिंतन के विषय में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इसमें आत्मा और उसकी स्वतंत्रता का उद्घोष है, तथापि वह मनुष्य के पार्थिव शरीर को घृणा के भाव से नहीं देखता। मानव-देह को देवालय माना गया है - नर में नारायण को मूर्तमान माना गया है। प्रायः भारतीय नीति-दर्शन पर निष्क्रियता का आरोप लगाया जाता रहा है-उसे सन्यासोन्मुख घोषित किया गया है किन्तु समकालीन दर्शन स्पष्ट रूप से निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग पर अधिक बल देता है-उसमें जीवन की सक्रियता तथा सृजनात्मकता पर विशेष जोर है। वह मनुष्य को प्रतिभासंपन्न तथा पूर्ण स्वतंत्र मानता है। वह मनुष्य के राजनैतिक, सामाजिक जीवन को विशेष महत्व देता है। वह धार्मिक सहिष्णुता तथा प्रकृति के प्रति प्रेम की भी बात करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि नव-जागरणकाल से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति पर्यन्त भारत में एक नवीन जीवन-दृष्टि विकसित हुई है जिसे उसके ईश्वरवादी स्वर के बावजूद निःसंकोच तथा असंदिग्ध रूप से मानववादी कहा जा सकता है-ब्रह्मसमाज, प्रार्थना-समाज और आर्य-समाज के सुधारों में इसकी सशक्त अभिव्यक्ति

25. राय, एम०एन०, मैटिरियलिज़्म, दिल्ली : अजंता पब्लिकेशन, 1982, पृ० 15

हुई है। सती प्रथा का उन्मूलन, दासता अथवा गुलामी का अंत होना, बाल-विवाह को रोकना, बहु-विवाह पर प्रतिबंध लगाना, विधवाओं का पुनर्विवाह, दहेज-प्रथा को बंद कराना, छुआछूत का निराकरण करना, जात-पात को तोड़ना, नशा सेवन का निषेध, मातृभाषा का विकास, राष्ट्रभाषा को विकसित करना तथा नारी को समान अधिकार से विभूषित कराना आदि नव-जागरणकाल के वे प्रयास हैं जिनसे सिद्ध होता है कि देवालयों में जाकर ईश्वर की पूजा करना ही लोगों को अभीष्ट न प्रतीत होता था। जीवन में रुचि लेकर उसे उन्नत बनाना ही जीवन की वास्तविक साधना है - यह आस्था सामयिक भी थी और उचित भी।

परंपरावादी मानववाद जहां मनुष्य को एक प्रतिष्ठित स्थान देता है, वहीं उसके अनुसार अंतिम सत्ता मानवीय न होकर मानवोत्तर है, भले ही इस आध्यात्मिक सत्ता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मनुष्य के रूप ही में क्यों न हुई हो। इस भाव की सशक्त अभिव्यक्ति ईश्वरवादी मानववादी विचारधारा के रूप में तो हुई ही है अपितु उस क्रांतिकारी अनीश्वरवादी मानववाद की विचारधारा के रूप में भी हुई है, जिसका प्रतिनिधित्व मानवेंद्रनाथ राय करते हैं।

दोनों ही धाराओं का मूल स्वर एक ही था कि हमें जीवन को उन्नत बनाना ही अभीष्ट होना चाहिए - गुफाओं एवं कंदराओं में ईश्वर की उपासना से कहीं अधिक श्रेयस्कर है दलितों, पीड़ितों की सेवा करना। जो भी हो, जितनी विरोधी ये धाराएं सिद्धांततः प्रतीत होती हैं उतनी वे वस्तुतः हैं नहीं। दोनों ही ने समवेत रूप से एक ऐसी व्यापक मानवीय दृष्टि के आविर्भाव में अपना योगदान दिया है, जिससे न केवल भारतवर्ष समृद्ध हुआ है बल्कि संपूर्ण विश्व समृद्ध हुआ है क्योंकि इसने पूर्व एवं पश्चिम के विभाजन को धराशायी कर दिया है और मानव के प्रति एक ऐसी आस्था को रूपायित किया है जिसे कालांतर में सभी के द्वारा समर्थन मिल सकेगा।

आगामी अध्यायों में हम विस्तार से इन दोनों चिंतनधाराओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करेंगे, जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के प्रभावों को आत्मसात् करते हुए एक नवीन युग का आविर्भाव किया है।

अध्याय - 2

स्वामी विवेकानंद (1863-1902)

दार्शनिक दृष्टि

स्वामी विवेकानंद के अपूर्व व्यक्तित्व में दार्शनिक अंतर्दृष्टि और धार्मिक अनुभूति क अद्‌भूत सामंजस्य था। उनमें ईश्वर के प्रति असीम अनुराग तथा समर्पण क। भाव था। वही उनकी अनेक प्रतिक्रियाओं के मूल में भी निहित था। वे अपने समय के अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों के संपर्क में आए पर उनके दर्शन पर सबसे बड़ा प्रभाव उनके गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का था। नरेंद्रनाथ को विश्वास-अविश्वासों, अनेक प्रकार की दुःख वेदनाओं तथा संघर्षों के भीतर से लाकर श्री रामकृष्ण देव ने स्वयं अपने ही हाथ से ठोक-पीट कर विवेकानंद बनाया था। अपने गुरु की इच्छाशक्ति के यंत्र रूप थे वह। वस्तुतः उनका जीवन ही श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों को व्यवहार में चरितार्थ करने तथा जगत् में प्रसारित करने के निमित्त समर्पित था। लोक कल्याण के जिस भाव का अंकुरण उनके गुरु ने किया था, उसे पल्लवित व पुष्पित किया स्वामी विवेकानंद ने। गुरु से प्राप्त दृष्टि के लोककल्याणकारी संदेश को उन्होंने अपनी अपूर्व अनुभूति-सिचित वाणी के माध्यम से विश्व के कोने-कोने में पहुंचाया।

उनकी तेजस्विता का आभास बाल्यकाल से ही होने लगा था। उनके भीतर मात्र ज्योतिर्मंडल के ऋषि ही नहीं, बुद्‌ध, शंकर, नेपोलियन, वाल्मीकि, व्यास आदि महान् आत्माएं मानो एक साथ आविर्भूत हुए थे।[1] इस कारण उनमें विपुल आध्यात्मिक शक्ति, दया, परदुःखकातरता, तेज, वीर्य, धैर्ययुक्त आत्मविश्वास, शारीरिक एवं मानसिक बल और इन्हीं से उत्पन्न अप्रतिम नेतृत्व का भाव था। उन्हें प्रचलित अर्थ में दार्शनिक कहकर उनके व्यक्तित्व के अप्रतिम सौंदर्य को विस्मृत करना होगा। सत्य के प्रति इस प्रकार का समर्पण और उसके तहत पूर्ण प्रतिबद्‌धता का जीवन विरल है। विस्तार में उनकी करुणा बुद्‌ध-जैसी ही थी। उनमें संपूर्ण मानवता समाविष्ट थी। उन्होंने विश्व के सभी गरीबों के प्रति अपनी तीव्र समवेदना व्यक्त करते हुए कहा था- "मैं तत्व

1. स्वामी अपूर्वानंद, युगाचार्य विवेकानंद, गोरखपुर, रामकृष्ण समिति। 1953 : पृ० 5

जिज्ञासु नहीं हूं, दार्शनिक भी नहीं। नहीं नहीं मैं साधु भी नहीं हूं मैं गरीब हूं, मैं गरीबों से प्यार करता हूं।"[2] स्पष्ट है कि वे संपूर्ण से भीतर से जुड़े हुए महामानव थे। उनका दर्शन अद्‌वैत वेदांत के तहत प्रसारित जीवन दृष्टि का अनूठा एवं मौलिक प्रयास है। वेदांत के आदर्श को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में परिणत करने का प्रयत्न स्वामी जी के जीवन का मुख्य संकल्प था, जिसका प्ररेणा स्रोत उनके गुरु का आदेश तथा पीड़ित मानवता के प्रति उनके हृदय की अतिशय संवेदनशीलता ही है। यहाँ इस अत्यधिक मानवीय दृष्टि की पृष्ठभूमि में विद्‌यमान दार्शनिक दृष्टि को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाएगा।

ब्रह्म का स्वरूप

स्वामी विवेकानंद अद्‌वैद वेदांती थे। अद्‌वैतवाद का गुणगान करते हुए वे स्वयं कहते हैं : "मेरे विचार में अब तक विश्व के किसी भी देश में दर्शन एवं धर्म के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है, उसका चरम विकास एवं सुन्दरतम पुष्प अद्‌वैतवाद है। यहां मानव विचार अपनी अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है और अभेद प्रतीत होने वाले रहस्य के भी पार चला जाता है।"[3] उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। समूचा विश्व ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। वह एकमेवाद्वितीय है, अपनी सत्ता का वह स्वयं ही आधार है यह अनंत सत्ता अपरिणामी, अचल और निरपेक्ष है। इस सर्वव्यापी विराट् तत्व की घोषणा स्वामी जी के व्याख्यानों में विशेषकर उनके 'ज्ञानयोग' शीर्षक से प्रस्तुत भाषणों में हुई है। वे कहते हैं, "सर्वव्यापी वस्तु एक ही है और एक ही नाना रूप में प्रतीत होती है। इसको चाहे आत्मा कहो अथवा अन्य कोई द्रव्य कहो, जगत् में एकमात्र इसी का अस्तित्व है। यह आत्मा ही ब्रह्म है, जो नाम - रूप की उपाधि के कारण अनेक प्रतीत हो रहा है।"[4] इसे भलीभांति स्पष्ट करने के निमित्त वह अनेक दृष्टांतों का सहारा लेते हैं- कभी समुद्र का तो कभी सूर्य का। समुद्र की तरंगों में एक भी तरंग समुद्र से पृथक् नहीं है फिर भी नाम - रूप के कारण वह समुद्र से पृथक् प्रतीत होती है। नाम रूप के नष्ट हो जाने पर वह समुद्र की तरंग समुद्र ही हो जाती है। वस्तुतः "मैं" अथवा 'तुम' जिस सत्ता की ओर इंगित करता है, वह अपने में कुछ नहीं है सब अंततः वह ही है।[5] अतएव नित्य, शुद्‌ध, नित्यपूर्ण, अपरिणामी, अपरिवर्तनीय

2. दि मेसेज आफ विवेकानंद : प्रकाशक - स्वामी गंभीरानंद : अध्यक्ष-अद्‌वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय, 1962, पृ० 8
3. विवेकानंद साहित्य : जन्मशती संस्करण द्वितीय खंड : प्रकाशक - स्वामी गंभीरानंद : अध्यक्ष - अद्‌वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय, 1963 : पृ० 210
4. वही : पृ० 30
5. वही : पृ० 30 और देखिए - स्वामी विवेकानंद : धर्मविज्ञान : नागपुर, रामकृष्ण मठ : 1982 : पृ० 133

एक आत्मा है। वह किसी अन्य सत्ता में रूपांतरित नहीं होती और यह सब विभिन्न परिणाम उस एक आत्मा ही में लहरों की भांति होने वाले परिवर्तन हैं। वस्तुतः आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसका वास्तव में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। विश्व का कण-कण उस एक सत्ता का ही प्रकाशन है। विवेकानंद वेदांत के मूल मंत्र "एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि तत्व मूलतः एक ही है परन्तु वह भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है। सब चराचर गोचर जगत्, मनुष्य और पशु, शरीर मन और आत्मा - ये सब उसी के रूप हैं। उनकी भिन्नता प्रकारगत नहीं है।[6] वस्तुतः उसके सही रूप का पता, भेददृष्टि का अतिक्रमण करने पर ही होता है। उनसे संबद्ध जो भी वर्णन है, वह भेद दृष्टि के स्तर ही पर होता है। यही समझ की कठिनाई है, क्योंकि भेद-दृष्टि का अतिक्रमण सामान्यतः असंभव है। अतः भेदों के स्तर पर उसे रूपायित करते हुए यही कहा जा सकता है कि वस्तुओं में वैविध्य रहते हुए भी उनकी एकता अक्षुण्ण है। उपनिषदों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं: "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदेवेह" - जो कुछ यहां है, वह वहां है, जो कुछ वहां है, वही यहां भी है।[7] जगत् की विविधता के मध्य सर्वत्र वही एक तत्व विद्यमान है। विवेकानंद का कहना है कि वेदांत जगत् की सत्ता का निषेध नहीं करता वरन् उसका कहना है कि 'जगत् को ब्रह्म रूप देखो'। वस्तुतः वह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसके प्रमाण स्वरूप वह ईशोपनिषद् का दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं - "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्" - जगत में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से आच्छन्न है अर्थात् प्रत्येक वस्तु के मध्य ईश्वर का एकत्व का दर्शन करना होगा।[8] स्वामी जी के अनुसार सतही रूप से भिन्न प्रतीत होने वाले वस्तुओं में एकत्व का एहसास ही महत्वपूर्ण है।[9] संसार विविधता का अपरिमित प्रसार है, यह भले बुरे का मिश्रण है किन्तु इन सब और इन जैसे अनेकों विरोधों के पीछे ज्ञानी तो एकत्व को ही देखता है। कठोपनिषद् का उद्धरण देते हुए स्वामी जी कहते हैं - "बालबुद्धि मनुष्य बाहरी काम्य वस्तुओं के पीछे दौड़ते फिरते हैं। इसलिए सब ओर व्याप्त मृत्यु के पाश में बंध जाते हैं। किन्तु ज्ञानी पुरुष अमृतत्व को जानकर अनित्य वस्तुओं में नित्य वस्तु की खोज नहीं करते।"[10] उसे सीमित वस्तुओं में लिप्त होकर नहीं जाना जा सकता। वस्तुतः गोचर जगत् में द्रष्टव्य विविध शरीर, मन, हमारी चिंताएं या विचार सभी शांत व सीमित हैं किन्तु जो साक्षी पुरुष इन सबका निरपेक्ष द्रष्टा है, वह मनुष्य

6. *विवेकानंद साहित्य*, द्वितीय खंड, पृ० 135
7. वही : पृ० 135
8. वही : पृ० 150
9. वही : पृ० 138
10. वही : पृ० 133

में विद्यमान शाश्वत आत्मा ही है, वही एकमात्र अनंत सत्ता है और वही जगत् का एकमात्र अनंत कारण है। स्वामीजी का कहना है : "अनंत की खोज अनंत में ही करनी होगी और हमारी अंतर्वर्ती आत्मा ही एकमात्र अनंत वस्तु है।"[11]

यह अनंत किसी देशविशेष में सीमित नहीं वह सर्वव्यापी है। आत्मा के स्वरूप के विषय में सांख्य एवं अद्वैद एकमत हैं कि उसका कोई आकार नहीं होता और जिसका आकार नहीं होता वह अवश्य सर्वव्यापी होगा। देश-काल-निमित्त मन के अन्तर्गत हैं और यह आत्मा मन से अतीत व निराकार है इसलिए देश-काल-निमित्त से परे है और इसीलिए अनंत है। अनंत कभी अनेक नहीं हो सकता, इसलिए स्वामी जी का कथन है कि अनेक आत्माओं की धारणा सत्य नहीं है। अतएव मनुष्य का वास्तविक स्वरूप अनंत और सर्वव्यापी है और उसका प्रातिभासिक रूप जीव मनुष्य के इसी वास्तविक स्वरूप का एक सीमाबद्ध भावमात्र है।[12] वस्तुतः ब्रह्म देश-काल-निमित्त में से होकर रूपायित होने के कारण प्रातिभासिक जीव बन गया है। किन्तु अपने विशुद्ध रूप में जहां ब्रह्म है वहा देश-काल-निमित्त सत्ता है ही नहीं, इसलिए वास्तव में वह बद्ध नहीं है वरन् शाश्वत रूप से मुक्त ही है। अब प्रश्न यहां उठता है कि आत्मा के मुक्त होने का क्या अर्थ है? उसके मुक्त होने का अर्थ है उसकी स्वतंत्रता, अर्थात् किसी अन्य वस्तु का उस पर तनिक भी प्रभाव न होना। आत्मा कार्य-कारण-संबंध से बिल्कुल अतीत है, इसीलिए वह स्वतंत्र या मुक्त स्वभाव की है। आत्मा का अमरत्व तथा उसका आनंद रूप होना उसके मुक्त स्वभाव से ही अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। यदि आत्मा स्वभाव से मुक्त या स्वतंत्र न हो तो उसे कोई मुक्त या स्वतंत्र नहीं कर सकता है। आत्मा का अनंतत्व तथा सर्वव्यापी होना कहीं बाहर से आरोपित अथवा अर्जित नहीं बल्कि उसके स्वभाव में ही अंतर्निहित है। उसे किसी बाह्य प्रयत्न से स्वतंत्रता प्राप्त नहीं करना है, वह स्वतः मुक्त है। स्वामी जी स्वयं कहते हैं : "हमारी आत्मा के भीतर जो यथार्थ सत्य है, वह यही कि आत्मा सर्वव्यापी है, अनंत है, चैतन्य स्वभाव है, हम स्वभाव से ही वैसे हैं-हमें प्रयत्न करके वैसा नहीं बनना पड़ता। प्रत्येक आत्मा अनंत है, अतः जन्म और मृत्यु का प्रश्न उठ ही नहीं सकता।"[13] इसे एक द्रष्टान्त द्वारा स्वामी जी और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। कुछ बालक-बालिकाएं परीक्षा दे रहे थे। पूछे गए अनेक प्रश्नों में से एक प्रश्न यह था - "पृथ्वी गिरती क्यों नहीं?" एक बुद्धिमती बालिका ने एक ओर प्रश्न करके इस प्रश्न का समाधान कर दिया - "पृथ्वी गिरेगी कहां पर?" यह प्रश्न ही तो गलत है। पृथ्वी गिरे कहाँ? पृथ्वी के लिए गिरने-

11. वही : पृ० 134
12. वही : पृ० 10-11
13. वही : पृ० 11

उठने का कोई अर्थ नहीं। अनंत देश के ऊपर-नीचे नहीं होता। ये दोनों तो सापेक्ष देश में है।[14] अस्तु जो स्वतः अनंत, सर्वव्यापी तथा नित्य मुक्त है, उसके कहीं आने-जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह न पैदा होती है, न मरती है और न पुनः अवतरित होती है।

वस्तुतः ब्रह्म के विवेचन के पश्चात् आत्मा के स्वरूप के संबंध में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि इस संबंध में विवेकानंद का मत पारंपरिक अद्वैत का ही है। तत्व एक ही है। उसी को विभिन्न संदर्भों में आत्मा और ब्रह्म कहा जाता है। वस्तुगत दृष्टि से देखने पर हम उसको ब्रह्म अर्थात् वस्तु जगत् की वास्तविकता का आधारभूत तत्व कहते हैं। उसमें वह शुद्ध अपरिमित सत्ता है जो मूलभूत चेतना है और निर्विशेष भी। उसी अद्वैत तत्व को जीव की दृष्टि से आत्मा कहा गया है जो कि हमारी अपनी सत्ता की आधारभूत वास्तविकता है। इस रूप में वह एक ऐसी सत्ता है जो विशुद्ध रूप से चेतना है। इस प्रकार शंकराचार्य ब्रह्म और आत्मा में अभेद स्थापित करते हैं। इसी अभेद दृष्टि का यह तार्किक निष्कर्ष है कि जब व्यक्ति में ज्ञान का उदय हो जाता है तब विश्व की यह सारी विविधता तिरोहित हो जाती है। उसे ऐसा बोध हो जाता है कि यह सब कुछ केवल उसकी आत्मा का ही विस्तार है; आत्मा से भिन्न, स्वतंत्र अथवा बाहर कुछ भी नहीं है।

आत्मा और ब्रह्म में यह अभेद देखना और संपूर्ण विश्व को केवल आत्मा के ही विस्तार के रूप में देखना - यही अद्वैत का मूल मंत्र है। स्वामी विवेकानंद इस मंत्र को केवल एक तत्वमीमांसीय सत्य के रूप में प्रतिपादित करके ही नहीं रह जाते। अद्वैत केवल ज्ञान की स्थिति नहीं है। स्वामीजी का सबसे बड़ा योगदान तो यह है कि वे उसे अनुभूति के साथ जोड़ते हैं। यही कारण है कि अद्वैतवाद के माध्यम से वे महान् मानववादी दर्शन हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इस तरह अद्वैतवाद का क्रियात्मक पक्ष क्या है? उसमें मानववादी दृष्टि का समावेश कैसे होता है? इन प्रश्नों का उत्तर आगामी पृष्ठों में दिया जाएगा।

संप्रति हमारे समक्ष एक दूसरा प्रश्न विचारणीय है, जिसका अद्वैतवाद को हमेशा से सामना करना पड़ा। प्रश्न यह है कि यदि तत्वतः आत्मा अथवा ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह इसकी नाम - रूप की सीमाओं में व्यक्ति रूप है, तो ऐसा क्यों होता है कि वे सभी वस्तुएं हमारे लिए पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व वाली बन जाती हैं और हमारा जीवन तथा दृष्टि अद्वैतमूलक न रह करके द्वैतमूलक हो जाती है और परिणामस्वरूप जो जीवन हमारे लिए सतत 'आनंद रूप' होना चाहिए वही हमारे लिए दूभर हो जाता है।

शांकरवेदांत का कहना है कि भेद-दृष्टि अज्ञान से उत्पन्न होती है, जिसके कारण न केवल वास्तविक सत्ता आवृत्त हो जाती है, बल्कि उसके स्थान पर दूसरी सत्ता प्रक्षेपित हो जाती है। शंकराचार्य ने जगत् की व्याख्या के लिए अध्यास की विषद्

14. वही : पृ० 11

चर्चा की है और उसी के माध्यम से नित्य-अनित्य, आत्म-अनात्म संबंधी सच्चाई को स्पष्ट करना चाहा है। इसी संदर्भ में उन्होंने जगत् के मिथ्यात्व की भी बात की है। जगत् माया है - सद्-असद्-विलक्षण है, यानी ऐसी सत्ता है, जो न सत् है न असत् है। इसीलिए वह वाणी एवं प्रत्ययों में व्यक्त न होने वाला विलक्षण सत् है। स्वामी विवेकानंद ने भी जगत् की, उसके लिए प्रयुक्त माया शब्द की वास्तविकता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

माया, जगत् एवं ईश्वर

स्वामी विवेकानंद के दर्शन में 'माया' एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है। जगत् के तात्विक स्वरूप को जानने का प्रयास कुछ नवीन नहीं, आदिकालीन है। हम बुद्धि के माध्यम से ही इस विश्व को जानने का प्रयास करते हैं, किन्तु बुद्धि की अपनी सीमाएं हैं, वे सीमाएं उसकी कोटियां हैं और उन्हीं कोटियों की सीमाओं के अन्दर ही हम सत् का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। देश-काल और कारणता का अतिक्रमण कर पाना उसके लिए संभव नहीं है।[15] अतः जगत् को तत्वतः समझ पाने की बुद्धि की इसी असमर्थता को 'माया' शब्द के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इसी बात को अन्य प्रकार से प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि जिस रूप में हम उसे जानते हैं, वह उसका 'बुद्धि सापेक्ष' रूप ही है, क्योंकि हमारी बुद्धि की संरचना ही कुछ ऐसी है कि हमें सत्ता का जगत् के रूप में आभास होता है। जगत् के मिथ्यात्व के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि इसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के संबंध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इंद्रिय द्वारा जगत् का जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं, यदि हमारे एक इंद्रिय और होती, तो हम उसमें और भी कुछ अधिक प्रत्यक्ष करते हैं तथा और अधिक इंद्रिय संपन्न होने पर हम इसे और भी भिन्न रूप में देख पाते। अतएव जिस रूप में उसका प्रत्यक्ष कर पाते हैं, वह इसकी यथार्थ सत्ता नहीं है, पर इसको अस्तित्व-शून्य या असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसकी तथ्यतः यानी इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।[16] अतएव स्पष्ट है कि माया न निरपेक्ष रूप से सत् है और न वंध्यापुत्र की तरह असत् है। 'माया' शब्द का प्रयोग विश्व की व्याख्या करने के निमित्त प्रतिपादित किसी सिद्धांत के लिए नहीं हुआ, वह तो संसार की वस्तु-स्थिति का ही हमें बोध कराता है।[17]

माया ब्रह्म पर-यानी जगत् के रूप में जो नानात्व सत् प्रतीत होता है, वह ब्रह्म पर ही आश्रित है। इसको भली-भांति समझाने के लिए स्वामी जी समुद्र व तरंग का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि तरंग का अस्तित्व पूर्ण रूप से समुद्र के अस्तित्व

15. वही : पृ० 45-56
16. वही : पृ० 46
17. वही : पृ० 44

पर निर्भर है, परन्तु समुद्र का अस्तित्व तरंग के अस्तित्व पर निर्भर नहीं है। जब तक तरंग-रहती है तब तक रूप भी रहता है, पर तरंग के विलीन होने पर वह रूप फिर नहीं रह सकता। इस नाम-रूप को ही माया कहते है।"[18] वह एक सत्ता ही माया के प्रभाव से बहुरूप में दिखाई पड़ रही है। यही नहीं इसका स्वभाव ही 'आत्म-विरोध' है। हमारा सम्पूर्ण जीवन सत् और असत् इन दो विरुद्ध भावों का संमिश्रण है। संसार की प्रत्येक वस्तु विरुद्ध स्वभाव से युक्त है। 'जहां शुभ है, वहीं अशुभ भी है और जहां अशुभ है, वहीं अवश्य शुभ है। जहां जीवन है, वहीं मृत्यु छाया की भांति उसका अनुसरण कर रही है। जो हंस रहा है उसी को रोना पड़ेगा और जो रो रहा है वह भी हंसेगा-यह क्रम बदला नहीं जा सकता।"[19] यही माया है।

अस्तु, यदि हम अपने जीवन का अवलोकन करें तो पता चलता है कि जीवन में पग-पग पर विसंगतियां विद्यमान हैं जिनका समाधान हमारे वश की बात नहीं। मनुष्य के सभी कार्य एक परिधि के अंदर घूमते रहते हैं और वह इस परिधि को कभी लांघ नहीं सकता क्योंकि वह अपनी बुद्धि की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता। व्यावहारिक जीवन में भी सर्वत्र ऐसा ही देखने को मिलता है। हमारे हृदय का प्रत्येक स्पंदन, प्रत्येक निःश्वास के साथ हमें स्वार्थपरक होने का आदेश देता है। पर दूसरी ओर एक परार्थवृत्ति कहती है कि स्वार्थ के परित्याग में ही जीवन की सिद्धि है। इच्छाओं की भागदौड़ मृगतृष्णा के समान प्रतीत होती है। मनुष्य आशा-निराशा में झूलता रहता है। इसके बाद मृत्यु तो इतना भयावह तथ्य है, जिससे कोई भी मुक्त नहीं रह सकता। हमारी प्रगति, हमारे निरर्थक आडंबरपूर्ण क्रिया-कलाप, समाज-संस्कार, ऐश्वर्य, ज्ञान-इन सब की एकमात्र गति मृत्यु ही है। जीवन की अनित्यता का बोध होते हुए भी समस्त जीवों में यह विषय आसक्ति विद्यमान है। क्षणभंगुर जीवन से हम आसक्त क्यों हैं? हम इसका परित्याग क्यों नहीं कर पाते? यह हम नहीं जानते और यही माया है। राजा युधिष्ठिर से जब यह प्रश्न पूछा गया कि इस पृथ्वी का सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है, तो प्रत्युत्तर में इसी बात को उन्होंने इस प्रकार कहा कि हमारे चारों तरफ लोग मर रहे हैं, फिर भी हम यह सोचते हैं कि हम कभी न मरेंगे।[20]

विश्व का यह अनोखा स्वरूप मायावी है और इससे मुक्त होने का कोई भी उपाय नहीं। यदि कोई यह सोचता है कि कालांतर में एक ऐसी आदर्श स्थिति का आविर्भाव होगा, जिसमें इस प्रकार की विसंगतियां न होंगी तो उसका ऐसा सोचना व्यर्थ है। शुभ-अशुभ, आशा-निराशा, सुख-दुःख का यह नृत्य उतना ही सत् है, जितना जगत्। स्वामी जी कहते हैं : "जो मनुष्य यह कहता है कि संसार को पूर्ण शुभमय हो

18. वही : पृ० 31
19. वही : पृ० 52
20. वही : पृ० 49

जाने दो, तब मैं कार्य करूंगा और आनंद भोगूंगा, उसकी बात उसी व्यक्ति की तरह है, जो गंगातट पर बैठकर कहता है कि जब इसका सारा पानी समुद्र में पहुंच जाएगा, तब मैं इसके पार जाऊंगा। दोनों बातें असंभव हैं।[21] इस प्रकार स्वामी जी के अनुसार शुभ-अशुभ ये दो एकदम भिन्न सत्ताएं नहीं हैं। इस विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे एकदम शुभ या बिल्कुल अशुभ कहा जा सके। सम्पूर्ण विश्व ही शुभ व अशुभ का यौगिक है। इसीलिए स्वामी विवेकानंद कहते हैं : "यदि अशुभ को दूर करना चाहो तो साथ ही तुम्हें शुभ को भी दूर करना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। मृत्यु को दूर करने के लिये जीवन को भी दूर करना पड़ेगा। मृत्युहीन जीवन और दुःखहीन सुख, ये बातें परस्पर विरोधी हैं, इनमें कोई सत्य नहीं है, क्योंकि दोनों एक ही वस्तु की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं।"[22]

अस्तु जगत् की इसी शाश्वत सापेक्षता पर बल देते हुए स्वामी जी कहते हैं कि जहां तक भी हमारी दृष्टि जाती है, देवगण, देवदूत सभी यहां तक कि ईश्वर भी कालचक्र में आबद्ध हैं, माया की परिधि में हैं।[23] माया के अपरिमित प्रचार में सत् को उसकी निरपेक्ष अपरिमितता में जानना संभव नहीं है। हमारा ज्ञान-विज्ञान सभी इसकी परिधि में आता है। अतः सभी पारमार्थिक दृष्टि से-अद्वैत दृष्टि से मिथ्या है। अन्य शब्दों में बुद्धि की कोटियों के माध्यम से देखने पर सत्ता स्रष्टा और सृष्टि में विभाजित हो जाती है। इसी बात को व्यक्त करते हुए स्वामी जी कहते है : "ईश्वर स्वयं ही आपका प्रतिबिंब या प्रतिमा स्वरूप है। ईश्वर ने मनुष्य की अपने प्रतिबिंब के रूप में सृष्टि की"- यह बात भूल है। मनुष्य ईश्वर की निज के प्रतिबिंब के अनुसार सृष्टि करता है - यही बात सत्य है।"[24] इस व्याख्या के मनोवैज्ञानिक कारण का अनुसंधान करते हुए वे कहते हैं, कि ईश्वर की धारणा मनुष्य के मन का स्वाभाविक गुण है।[25] वस्तुतः मानवजीवन में व्याप्त सार्वजनीन असंतोष उसके जीवन के चरम लक्ष्य स्वाधीनता की प्राप्ति का प्रतीक है और मनुष्य सदैव ही उस लक्ष्य का अनुसंधान कर रहा है। मानव की इस स्वतंत्रता और मुक्ति की आकांक्षा से ही यह धारणा उत्पन्न होती है कि ऐसा पुरुष अवश्य है जो सम्पूर्णतः मुक्त स्वभाव है - वह ईश्वर है। जिस प्रकार अपनी सीमितता या बेबसी का एहसास मानव मन की विशेषता है, उसी प्रकार ईश्वर की - पूर्णत्व की धारणा भी मानव-मन की स्वाभाविक संरचना है, जो उसके जीवन को गति प्रदान करती है।

21. वही : पृ० 58-59
22. वही : पृ० 53
23. स्वामी विवेकानंद : हिंदू धर्म : नागपुर, रामकृष्ण मठ : 1982, पृ० 118
24. *धर्म विज्ञान* : पृ० 99-100
25. *स्वामी विवेकानंद साहित्य* : द्वितीय खंड : पृ० 293 और भी देखिए - स्वामी विवेकानंद : *धर्मरहस्य* 1981 : वही : पृ० 8

यही नहीं, ईश्वर की सापेक्षता को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि हम पूर्णत्व की कल्पना अपनी उन्नत आकांक्षाओं के अनुरूप करते हैं।[26] यही कारण है कि आदिम मानव से लेकर आज तक के मानव ने ईश्वर की अनेकों कल्पनाएं की हैं। स्पिनोजा की भांति विवेकानंद भी कहते हैं कि मानवेतर जीव भी यदि इसकी कल्पना करते हैं तो अपनी संरचना के अनुरूप ही करते होंगे। उनके कथनानुसार कल्पना करो कि मनुष्य, महिष तथा मत्स्य इतने ही प्रकार के बर्तन हैं और ये बर्तन समुद्र रूपी ईश्वर में अपने आकार तथा पात्रता के अनुसार जल भरने को आते हैं। मनुष्य में वह जल मनुष्य का रूप धारण करेगा और अपनी इसी संरचना के अनुरूप ही अपनी परिपूर्णता की कल्पना करेगा।[27] पर इन सभी कल्पनाओं की अपनी सीमाएं हैं। सत्ता जिसे हम ईश्वर कहते हैं और जो मात्र उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है, इन सभी में परिव्याप्त है और इन सभी का एक महत्वपूर्ण अर्थ में अतिक्रमण करती है। इसलिए उसे किसी विशिष्ट रूप में एकीकृत करने का प्रयास उचित नहीं है।

ईश्वर के इसी स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट करने के निमित्त विवेकानंद ब्रह्मसूत्र का दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, "जिनसे विश्व का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वे ही ईश्वर हैं।[28] उनके प्रकाश से ही संपूर्ण प्रकृति प्रकाश पाती है। वे संपूर्ण जगत् में व्याप्त हैं और इसका अतिक्रमण भी करते हैं। उनके इस रूप को 'उर्णनाभ' यानी मकड़ी का उपमा से स्पष्ट किया गया है।[29]

प्रश्न उठता है कि शुद्ध चेतन स्वरूप ईश्वर से विश्व कैसे बन जाता है? इसका उत्तर स्वामी विवेकानंद यह कह कर देते हैं कि जिसे अज्ञानी लोग 'विश्व' कहते हैं और उसे सत्य मानते हैं वस्तुतः उसका अस्तित्व है ही नहीं; संसार की विविधता मात्र सम्मोहन है, सत्ता तो केवल एक ही है और वह अनादि, अनंत और शाश्वत शिव स्वरूप है।[30] स्वामी जी ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों रूप में स्वीकार करते हैं। किंतु साथ ही यह भी दर्शाते हैं कि सगुण ईश्वर ब्रह्म से भिन्न व पृथक् नहीं है। माया या अज्ञान के कुहरे से देखा गया ब्रह्म की सगुण ईश्वर है। जब ब्रह्म यानी परम निरपेक्ष सत् को अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा जानने का प्रयास करते हैं, तो वह हमें सगुण ब्रह्म के रूप में प्रतिभासित होता है। वस्तुतः जो ब्रहम ज्ञाता रूप में प्रतिष्ठित है उसे विषयीकरण करने के फलस्वरूप ही सगुण ब्रह्म या ईश्वर की

26. स्वामी विवेकानंद साहित्य : द्वितीय खंड वही : पृ० 30
27. वही, पृ० 260; और भी देखिए स्वामी विवेकानंद, भक्तियोग, नागपुर : रामकृष्णन मठ, 1983, पृ० 42
28. भक्तियोग, पृ० 12 और देखिए विवेकानंद साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० 107
29. विवेकानंद साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० 208-209
30. वही : पृ० 259

उत्पत्ति होती है। और जब वही सत्ता माया के पूर्णतः अधीन हो जाती है तो उसे ही जीव की संज्ञा दी जाती है।[31] यहां पर इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि विवेकानंद की दृष्टि में ईश्वर उतना ही सत्य है, जितनी जगत् की अन्य कोई वस्तु; यह कभी निरपेक्ष रूप से सत् नहीं हो सकता।

स्वामी जी आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता को मुण्डकोपनिषद के एक सुंदर रूपक द्वारा प्रस्तुत करते हैं : एक ही वृक्ष पर सुंदर पंख वाले अभिन्न सुखा दो पक्षी हैं- उनमें से एक वृक्ष के ऊपर वाले भाग पर और दूसरा नीचे वाले भाग पर बैठा है। नीचे का सुंदर पक्षी वृक्ष के मीठे और कड़वे फलों को खाता है। इस प्रक्रिया के दौर से गुजरते हुए उसने ऊपर की ओर देखा। ऊपर उसको दूसरा पक्षी दिखाई दिया, वह मीठे या कड़वे किसी भी फल को नहीं खाता। वह स्थिर व धीर भाव से बैठा है। किन्तु उसे देखकर भी वह फिर से उन्हीं फलों को खाने लगता है। कालांतर में उसे इन सबसे विरक्ति हो जाती है। धीरे-धीरे इसी दौर से गुजरते हुए वह उस ऊपर वाले पक्षी की ओर अग्रसर होने लगता है और वह देखता है कि वह स्वयं वही पक्षी है और तत्क्षण वह शांत, महिमामय और मुक्त हो जाता है। वस्तुतः वृक्ष पर दो पक्षी कभी थे ही नहीं - केवल एक ही पक्षी था। नीचे वाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी की छाया भर था।[32] ऊपर वाला पक्षी जीवों की आत्मा तथा जगत् का एकमात्र अधिष्ठान है और नीचे वाला पक्षी, जीवात्मा ही इस जगत् के सुख-दुःख रूपी मीठे-कड़वे फलों का भोक्ता है। यही नहीं अपने तात्विक रूप में जीव ही ब्रह्म है।

मानववादी दृष्टि

उपरोक्त प्रस्तुति से यह स्पष्ट है कि मनुष्य का अपना एक यथार्थ दिव्य व्यक्तित्व है, जो पूर्ण है और स्वतंत्र भी, जिसे कुछ भी प्राप्त नहीं करना है। उसके अंदर व्याप्त प्रकाश स्वभावतः आवरण की पारदर्शिता के साथ क्रमशः प्रकाशित होता जाता है, क्योंकि उसकी प्रकृति ही इस प्रकार दीप्त होना है। स्वामी जी के मतानुसार मनुष्य पूर्णत्व, दिव्यत्व तथा अमरत्व की खोज में इसीलिए व्याकुल रहता है क्योंकि पूर्ण वह स्वयं है, दिव्य वह स्वयं है, किन्तु उसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इसी बात को स्वामी जी एक कहानी द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं : एक सिंहनी जिसका प्रसवकाल निकट था, एकबार अपने शिकार की खोज में बाहर निकली। दूर भेड़ों के एक झुंड को चरते देख, वह उन पर आक्रमण करती है और मर जाती है। एक मातृहीन सिंह शावक ने जन्म लिया। भेड़ें उस सिंहशावक की देखभाल करने लगीं। इस प्रकार

31. *स्वामी विवेकानंद से वार्तालाप*, नागपुर, रामकृष्ण मठ, 1982, पृ० 126 और भी देखिए : *विवेकानंद साहित्य*, द्वितीय खंड पृ० 259 तथा धर्मविज्ञान, पृ० 99
32. *विवेकानंद साहित्य*, द्वितीय खंड, पृ० 299 और भी देखिए - धर्मरहस्य, पृ० 16-17 तथा पृ० 51-52

सिंह शावक भेड़ों के समूह में पलता है और अपने स्वरूप को न जानने के कारण अपने को भेड़ का बच्चा ही समझता है, उसी प्रकार का व्यवहार भी करता है। कुछ समय बाद एक सिंह शिकार के लिए उधर आ निकला। वहां पर एक शेर का बच्चा देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उससे कहता है कि वह भेड़ नहीं है, वह तो शेर है। पर उस सिंह शावक को इस बात का विश्वास नहीं होता। फिर वह उस बच्चे को नदी के किनारे ले जाता है, वहां वह बच्चा अपना भी प्रतिबिंब देखता है और शेर का भी। तब क्षण भर में ही उसे सच्चाई का बोध हो जाता है कि सचमुच वह सिंह ही है, तब वह सिंह की तरह व्यवहार करने लगता है।[33] स्वामी जी का कहना है कि इसी प्रकार हम सभी सिंह स्वरूप हैं - आत्मा हैं, शुद्ध स्वरूप, अनंत और पूर्ण हैं। जगत् की महाशक्ति हमारे भीतर है। हमें उसे प्राप्त नहीं करना है, क्योंकि वही हमारा सच्चा तात्विक स्वरूप है। ज्ञान की सामान्य प्रक्रियाओं के माध्यम से हमें उसके सही स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा क्योंकि वह वस्तुबोध का आधार ज्ञाता रूप है।[34]

प्रश्न उठता है कि हमें अपने इस स्वरूप का बोध कैसे होगा? प्रत्युत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि इसके लिए हमें अपने से कहीं अन्यत्र अथवा दूर नहीं जाना है। मानव अपने नैतिक प्रयासों द्वारा स्वयं अपने इसी स्वरूप को अंजाने निरंतर व्यक्त कर रहा है। वस्तुतः हम सभी अपने अंतर के किसी कोने में परस्पर संयुक्त होने की अनुभूति रखते हैं। यही हमारे नैतिक जीवन की आधारभूत प्रेरणा है। चास्तव में मनुष्य के नैतिक होने का अभिप्राय यही है कि वह किस मात्रा में अपने व्यक्तित्व को अन्य के लिये न्योछावर कर सकता है। अन्य शब्दों में, इसका सीधा आशय यही है कि मनुष्य किस हद तक दूसरों में अपने व्यक्तित्व की व्यापकता की अनुभूति कर सकता है। अंतर मात्र इतना ही है कि एक प्रबुद्ध व्यक्ति इस एकत्व की अनुभूति, अपने सचेतन प्रयासों द्वारा व्यक्त करता है और सामान्य व्यक्ति संस्कारवश व्यक्त करते हैं।[35] कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य निरतर अपने आपको अपनी तात्विक आकांक्षाओं को, अपने व्यवहार के माध्यम से जाने या अनजाने व्यक्त करता जा रहा है अंतर केवल इतना है कि एक विवेकी संत उसे ज्ञात भाव से करने के फलस्वरूप अनेक भ्रांतियों तथा उनसे संबंद्ध प्रतिक्रियाओं से मुक्त रहकर आनंद की अवस्था में रहता है। इसी दिशा में हम सभी को आगे बढ़ना है, यही मानव जीवन की नियति है।

पुनः विवेकानंद कहते हैं कि यद्यपि इस प्रकार के व्यवहार की सामान्य अर्थों में उपयोगिता नहीं है तथापि यदि लोग इसकी उपयोगिता को जानना चाहते हैं तो यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के सारे चेतन-अचेतन प्रयासों का एक ही लक्ष्य है, और

33. *विवेकानंद साहित्य*, द्वितीय खंड, पृ० 18-19
34. वही : पृ० 14-15
35. वही : पृ० 15

वह है 'आनंद'। सामान्य मनुष्य इस आनंद को सदैव परिवर्तित होने वाली उपलब्धियों में ढूंढ़ता फिरता है किंतु यदि वास्तविक अर्थों में आनंद की उपलब्धि करनी है तो मनुष्य को उसे अपने अन्दर ही पाना होगा। वस्तुतः मनुष्य की 'आत्मा' ही चिरस्थायी शाश्वत आनंद का जीवंत स्रोत है। अन्य सब वस्तुएं तो बिंबित आलोक के कारण ही मोहक प्रतीत होती है। अस्तु आत्मा में इस आनंद की प्राप्ति ही मनुष्य का सर्वोच्च प्रयोजन है।[36] पुनः वे हमें स्मरण दिलाते हैं कि अज्ञान ही सब दुःखों का मूल कारण है और सबसे बड़ा अज्ञान तो हमारे अपने स्वरूप के संबंध में हमारी अल्पज्ञता है। इसके फलस्वरूप हम यह महसूस करते हैं कि आत्मा, जिसे हम 'मैं' शब्द से व्यक्त करते हैं, रोती है, दुःखी होती है और अनेकानेक कष्ट झेलती है। यही सारी स्वार्थपरता की जड़ है अतः इस अज्ञान से मुक्त होना और अपने वास्तविक दिव्य स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है और इसी में इस जीवन शैली की सार्थकता भी है।[37]

इस दर्शन की व्यावहारिकता को सिद्ध करते हुए वे कहते हैं कि सत्य किसी सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर नहीं होता इसलिए उसकी उपयोगिता, उसका मूल्य यहां पर उसके 'व्यावहारिक उपयोगिता पर निर्भर नहीं करता। वास्तविकता तो यह है कि किसी भी सामाजिक संरचना का महत्व इसी बात पर निर्भर करता है कि वह जीवन की उन्नत आकांक्षाओं के कितना अनुरूप है। जो दर्शन इन उन्नत आकांक्षाओं से जुड़ा है वह किसी भी सामाजिक व्यवस्था का स्थायी आधार होगा। इसी में इसकी श्रेष्ठता और सार्थकता है।[38] कुछ-कुछ इसी प्रकार के आदर्श समाज की कल्पना पाश्चात्य दार्शनिक कांट ने अपने दर्शन में 'साध्यों के साम्राज्य' के रूप में की है।

इसी की संपुष्टि में विवेकानंद कहते हैं कि यदि किसी भी समाज में सत्य का अनादर होता है और उसके जीवन में उसकी अभिव्यक्ति में विविध विघ्न बाधाएं पड़ती हैं, तो मनुष्य में ऐसे समाज का परित्याग कर देने का साहस होना चाहिए।[39] इस प्रकार का आत्मिक साहस अन्य प्रकार के साहस की अपेक्षा श्रेष्ठतम है क्योंकि इसके द्वारा जीवन की वह निष्ठा व्यक्त होती है जो हमें जीवन के चरम लक्ष्य तक ले जाती है। इसी संदर्भ में स्वामी जी पाश्चात्य सभ्यता के खोखलेपन की ओर इंगित कर कहते हैं कि कोरी बौद्धिक और शारीरिक शक्ति की श्रेष्ठता से कोई लाभ नहीं। किसी भी संस्था में जब तक आत्मिक मूल्य की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक अपनी संस्थाओं की श्रेष्ठता की बात करना निरर्थक है और यदि किसी के द्वारा यह कहा जाए कि आत्मिक

36. वही : पृ० 16
37. वही : पृ० 16
38. वही : पृ० 16-17
39. वही : पृ० 17

मूल्य और उससे संयुक्त उपलब्धियों की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है, इसलिए महत्वपूर्ण भी नहीं है, तो यह बात अनुचित है। वस्तुतः वही संस्था या समाज श्रेष्ठ है, जहां सर्वोच्च सत्य को कार्यरूप में परिणत किया जाता है। वही जीवन उन्नत व उत्तम है जो इस प्रकार उच्चतम सत्य के प्रति निष्ठावान हो। आगे वह सचेत करते हैं कि वही व्यक्ति अथवा वही जीवन इस प्रकार की निष्ठा रख सकता है, जिसने उस सत्य का साक्षात्कार किया हो, उसे जाना हो, उस पर मनन किया हो और फिर उसे व्यवहार में उतारा हो। बिना समुचित मनन के सत्य को अपने जीवन में अप्रत्याशित रूप से विकसित नहीं किया जा सकता। स्वामी जी समस्त मानवता का आत्मिक जागरण के निमित्त आह्वान करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि धन्य होंगे वे जीवन और धन्य होगा वह राष्ट्र जिसके सदस्य 'आत्मिक' में आस्था रखें और अपने जीवन में उस आस्था को मनसा, वाचा और कर्मणा साकार करें।[40]

जगत् अंततः क्या है? यह इस बात पर निर्भर करेगा कि हम अपने बारे में क्या सोचते हैं और हमारी अपेक्षाएं क्या हैं? एक छोटे से उदाहरण द्वारा अपनी बात स्पष्ट करते हुए विवेकानंद कहते हैं : किसी मार्ग में एक ठूंठ खड़ा था। एक चोर ने उसे कोई पहरे वाला समझा, अपने प्रेमिका की राह देखने वाले प्रेमी ने उसे अपनी प्रेमिका समझा। एक बच्चे ने जब उसे देखा, तो भूत समझकर डर से चिल्लाने लगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने यद्यपि उसे अलग-अलग रूपों में देखा, तो भी वह एक ठूंठ के अतिरिक्त कुछ भी न था।[41] वस्तुतः हम अपने को यदि संस्कारवश एक भेड़ का बच्चा ही समझने लगें हैं तो जीवन से सदा त्रस्त एवं भयभीत ही होते रहेंगे और इसके विपरीत, यदि हमने अपने सिंह रूप को आत्मसात कर लिया है, तो तेज और शक्ति के अपरिमित स्रोत के रूप में ही हम अपने को जानेंगे और तब संसार का कुछ भी हमें आतंकित नहीं कर सकेगा। वास्तव में संसार में कुछ भी बुरा या भला नहीं है, वह तो हमारे अपने सीमित दृष्टिकोण का ही प्रक्षेपण है। बात बस इतनी ही है कि प्रत्येक मनुष्य अपने लिए अपना-अपना संसार बना लेता है। उसे अपनी मानसिक अवस्था के अनुरूप ही यह संसार भला या बुरा प्रतीत होने लगता है।[42] एक दृष्टान्त के माध्यम से अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते है : एक कमरे में स्वर्ण की थैली रखी थी एक बच्चा वहीं खेल रहा था। एक चोर उस थैली को चुरा ले गया। तो क्या बच्चा यह समझेगा कि चोरी हो गई? हमारे भीतर जो है, हम बाहर भी देखते हैं। बच्चे के मन में चोर नहीं है, अतएव वह बाहर भी चोर नहीं देखता।[43] अतः यदि हम इस जगत् के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन ले आएं तो यही जगत् हमें मृगमरीचिका

40. वही : पृ० 17-18
41. वही : पृ० 91
42. वही, पृ० 19,267 और भी देखें - स्वामी विवेकानंद, कर्मयोग, नागपुर, रामकृष्ण मठ, 1984 पृ० 78
43. वही, विवेकानंद साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० 19

न दीखकर 'आनंद-आलय' ही प्रतीत होगा। परंतु इसके लिए हमें अपने भीतर ऊंचे-ऊंचे विचारों, ऊंचे-ऊंचे आदर्शों को भरना होगा और उन्हें दिन-रात मन के सम्मुख रखना होगा।[44] हम निर्बल है, पापी हैं, ऐसा कहने से काम नहीं बनेगा। हमें कहना चाहिए कि हम शक्ति के भंडार हैं, अपरिमित हैं, शाश्वत हैं, मुक्त हैं, अनंत आनंद के भागीदार हैं। इन संस्कारों से परिपूर्ण व्यक्तित्व कालांतर में वैसा ही बन जायगा क्योंकि व्यक्तित्व निर्माण के निमित्त उत्कृष्ट विचारों को ऐसा ही कल्याणकारी प्रभाव होता है। अतएव 'सोऽहम' - मैं आत्मा हू, शरीर, मन और बुद्धि नहीं, कहते कहते कालांतर में हमारा व्यक्तित्व उसी भाव से ओत-प्रोत हो, उसी को साकार करने लगेगा अन्यथा जीवन की निराशा से हम कभी भी उबर नहीं सकेंगे।[45]

पूर्वगामी पृष्ठों में मनुष्य के यथार्थ स्वरूप के निरूपण के साथ ही स्वामी विवेकानंद के द्वारा स्वीकृत मानवीय मूल्यों का स्वरूप स्पष्ट हो गया होगा। हमारे समक्ष अब जो प्रश्न महत्वपूर्ण है, वह यह है कि क्या इन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में हम अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं? यानी इस दर्शन की हमसे क्या अपेक्षाएं हैं और क्या हम उन्हें पूरा कर सकते हैं? और यह भी कि क्या सचमुच इन अपेक्षाओं को पूरा करते हुए हम मानवीय बने रह सकते हैं?

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है, वेदों और उपनिषदों से तथा अपने गुरु रामकृष्ण देव के सर्व-धर्म-समन्वयकारी अनुभूति से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानंद ने एक ऐसे धर्म का प्रचार किया जो विशिष्ट न होकर सार्वभौम था। विश्वसभा में 19 सितंबर, 1893 ई० के अधिवेशन में उन्होंने वेदांत का सार्वभौमिकता पर प्रकाश डालते हुए कहा : "यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है, तो वह ऐसा ही होगा, जो देश या काल से मर्यादित न हो, जो उस अनंत भगवान के समान ही अनंत हो, जिस भगवान के संबंध में वह उपदेश देता है, जिसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, संतो पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो, जो न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसंलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टि स्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनंत पथ खुला रहे, जो इतना व्यापक हो कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का प्रेमपूर्वक आलिंगन करे।... वह विश्व धर्म ऐसा होगा कि उसमें किसी के प्रति विद्वेष अथवा अत्याचार के लिए स्थान न रहेगा और उसका संपूर्ण बल मनुष्य मात्र को अपनी सच्ची, ईश्वरीय प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केंद्रित रहेगा।"[46]

44. वही, पृ० 156 और भी देखिए - दि मेसेज आफ विवेकानंद, पृ० 1
45. वही, पृ० 19-20, और भी देखिए - हिंदूधर्म, 1982, पृ० 10 तथा दि मेसेज आफ विवेकानंद, पृ० 2
46. हिंदूधर्म, पृ० 24-25

उन्होंने धर्म को जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखा। यही कारण है कि अपने व्याख्यानों के माध्यम से उन्होंने वेदांत धर्म को सामान्य जन-जीवन में मूर्तिमान करने का संदेश प्रसारित किया। वह चाहते थे कि उसका प्रभाव लोगों के सामाजिक और आर्थिक आदर्शों तथा उनके नित्य के आचरण और क्रिया-कलाप पर पड़े। साधारणतः लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि वेदांत केवल सिद्धांतों का ही समुच्चय है, अतः व्यावहारिक जीवन में उसका कुछ भी महत्व नहीं है। परन्तु अपने व्याख्यानों द्वारा स्वामी विवेकानंद ने स्पष्ट दर्शाया कि किस प्रकार वेदांत अत्यंत व्यावहारिक है तथा मानव जीवन के सर्वांगीण विकास में सहायक है। उनका कहना था कि यदि उसे कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सकता तो बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त उसका कोई मूल्य नहीं। अतः धर्म के रूप में वेदांत व्यावहारिक होना चाहिए। हमें अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका पालन करने में समर्थ होना चाहिए। केवल यही नहीं, अपितु आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन के मध्य जो एक काल्पनिक भेद है, उसे भी मिटा देना चाहिए क्योंकि वेदांत एकत्व का उपदेश देता है।[47] हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि समस्त कर्मों का लक्ष्य है मन के भीतर पूर्व स्थिति शक्ति को प्रकट कर देना- आत्मबोध को जाग्रत कर देना। मानव के विविध कर्म इस महान् शक्ति को मूर्तिमान करने के साधन मात्र हैं।[48] इस प्रकार उन्होंने वेदांत के आत्मिक एकता पर आधारित साम्य को मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रयोग करने का निर्देश दिया। इसीलिए उनके धर्म का नाम 'व्यावहारिक वेदांत' पड़ा जिसके द्वारा वे वन के वेदांत को घर में लाने की आशा कर सके। उनके अनुसार वेदांत दर्शन की एक विशेषता यह है कि वह केवल वन में 'ध्यान' द्वारा ही नहीं जाना गया, वरन् उसके सर्वोत्कृष्ट भिन्न-भिन्न अंश, सांसारिक कर्मों में विशेष व्यस्त मनीषियों द्वारा ही चिंतित तथा प्रकाशित किये गये। अर्थात् राजसिंहासन पर बैठने वाले सर्वाधिक कर्मण्य राज-राजर्षि ही इनके प्रणेता रहे हैं।[49]

स्पष्ट है कि वेदांत केवल वन या पहाड़ी गुफाओं में ही उपलब्ध होने वाला दर्शन नहीं। जिन लोगों ने इस सत्य समूह का आविष्कार किया वे कर्मठ जीवन व्यतीत करने वाले राजागण थे, जो कि अति व्यस्त होने के बावजूद इन सब तत्वों का चिंतन करने की योग्यता रखते थे। उन सत्यों को आत्मसात् करते हुए उनके अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करते थे और अपने उपदेश तथा आचरण से सामान्य जन को भी प्रशिक्षित करते थे। इसी संदर्भ में स्वामी जी वेदांत दर्शन के सर्वोत्तम भाष्य भगवद्गीता की संपुष्टि करते हुए कहते हैं कि इस उपदेश का केंद्र है संग्राम-स्थल जहां श्रीकृष्ण

47. स्वामी विवेकानंद, प्रैक्टिकल वेदांत कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, 1958, पृ० 1
48. कर्मयोग, पृ० 8.
49. प्रैक्टिकल वेदांत, पृ० 2-3

अर्जुन को इस दर्शन का उपदेश दे रहे हैं। इस युद्ध कोलाहल के बीच में भी वे उच्चतम दर्शन को सुनने का अवसर प्राप्त कर सके। गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर यही मत उज्ज्वल रूप से प्रकाशित है- तीव्र कर्मण्यता, किंतु उसी के बीच अनंत शांत भाव। विवेकानंद कहते हैं कि यही कर्म रहस्य है, जिसको प्राप्त करना वेदांत का परम लक्ष्य है।[50] यह वास्तविक कर्मण्यता, है जो भाव कभी भंग नहीं होता। स्वामी जी के मत में इस प्रकार की मनोवृत्ति ही कर्म करने के लिए सबसे अधिक उपयोगी होती है।[51] अस्तु आदर्श पुरुष वे हैं, जो परम शांति एवं निस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म का और प्रबल कर्मशीलता के मध्य परम शांति एवं निस्तब्धता का अनुभव करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट प्रदर्शित होता है कि वेदांत दर्शन के प्रकाश में हमारा जीवन अवश्य गढ़ा तथा व्यतीत किया जा सकता है। प्रश्न यह है कि जीवन में एकत्व की अनुभूति के निमित्त किस प्रकार के कर्म वरणीय हैं? इसके प्रत्युत्तर में स्वामी जी का कहना है कि यों तो मनुष्य अपने जीवन में नाना प्रकार के उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य किया करता है- कुछ लोग यश के लिए काम करते हैं, कुछ लोग धन के लिए और कुछ लोग स्वर्ग की लालसा में कार्यरत रहते हैं किंतु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो केवल कर्म के लिए ही कर्म करते हैं- वे नाम-यश अथवा स्वर्ग की परवाह नहीं करते- उनके कर्म का हेतु दूसरों की भलाई अथवा परोपकार है। निःस्वार्थ भाव से, मानव कल्याण के निमित्त प्रतिपादित यह कर्म ही श्रेष्ठ कर्म है, क्योंकि सर्वोच्च आदर्श को अभिव्यक्त करने की इसमें अपूर्व क्षमता है।[52] ऐसे ही कर्म के प्रतिपादन का निर्देश जर्मन दार्शनिक कांट ने भी अपने नीतिदर्शन में 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' के रूप में किया था।

अब प्रश्न उठता है कि दूसरों की भलाई के लिए किया गया कर्म श्रेष्ठ क्यों है? हम संसार का हित या कल्याण क्यो करें? इसके उत्तर में उनका कथन है कि दूसरों की सहायता करने का वास्तविक अर्थ है- स्वतः अपनी ही सहायता करना। मनुष्य को सदैव संसार का उपकार करने की चेष्टा करनी चाहिए क्योंकि वास्तव में ऐसा करके वह स्वतः अपना ही कल्याण करता है।[53] इसी संदर्भ में स्वामी जी एक उपदेश का स्मरण कर कहते हैं : "यह सुंदर संसार बड़ा अच्छा है, क्योंकि इसमें हमें दूसरों की सहायता करने के लिए समय तथा अवसर मिलता है।"[54] सच्चाई यह है कि समस्त अच्छे कार्य हमें शुद्ध तथा पूर्ण होने में सहायक होते हैं। इसलिए दूसरों की सहायता करना मनुष्य का सौभाग्य है। अस्तु, किसी को कुछ दान कर हम उसका

50. वही, पृ० 3, और भी देखिए - कर्मयोग, पृ० 12-13
51. प्रैक्टिकल वेदांत, पृ० 4 और भी देखिए - कर्मयोग, पृ० 13
52. कर्मयोग, पृ० 9-10
53. वही : पृ० 77
54. वही : पृ० 77

उपकार करने के बजाय स्वयं अपना ही उपकार करते हैं, इसलिए दान व परोपकार का अवसर प्राप्त कर हमें स्वतः कृतज्ञ व धन्य होना चाहिए।[55] इसी से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि हमें किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए। हम पहले ही देख चुके हैं कि यह संसार न तो अच्छा है, न बुरा बल्कि दोनों का मिश्रण है। अतः हमारा कर्तव्य व धर्म है कि हम दुर्बल-हीन-दरिद्रों के प्रति सहानुभूति और पापी के प्रति प्रेम का भाव रखें। यह जगत् चरित्र-गठन के निमित्त व्यापक स्थान है। इसमें हम सभी को सत्कर्म के अभ्यास द्वारा निरंतर 'आत्मिक' को मूर्तिमान करने का प्रयास करते रहना चाहिए।

वेदांत दर्शन के सामाजिक प्रयोग पर दिया गया यह बल स्वामी जी के मानववादी दृष्टिकोण की स्पष्ट घोषणा करता है क्योंकि उनकी व्यापक दृष्टि में ऊंच-नीच का भेद नहीं है, लोक-हितैषिता या जन-कल्याण को वे उत्तम मानते हैं। इसी के साथ मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा को बराबर बनाये रखते हैं। मनुष्य, मनुष्य का कल्याण करें, यह तो अभीष्ट है ही किंतु इससे भी अभीष्ट यह है कि मनुष्य अपनी आंतरिक गरिमा को पहचाने और सतत बनाये रखे। देवताओं की तुलना में भी, उनकी दृष्टि में मनुष्य श्रेष्ठ है। यदि वह केवल ईश्वर की बात करते, जिसके समक्ष मनुष्य को अपने को समर्पित करना होता तो हमारे लिए उन्हें मानववादी कहना संभव नहीं था।

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, स्वामी विवेकानंद की धर्म-विषयक व्याख्या में स्वामी रामकृष्ण के विचार स्पष्ट प्रतिध्वनित होते हैं। गुरु से प्राप्त महामंत्र- "शिव ज्ञान से जीव की सेवा" में निहित परम सत्य को विवेकानंद ने आत्मसात् किया तथा अपने जीवन में इस सेवा व्रत को जीवंत बनाकर, युग की आवश्यकता के अनुरूप अरण्य के वेदांत को घर में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया और इसके द्वारा मानव जाति के समक्ष एक नवीन क्षितिज का उद्घाटन किया। श्री रामकृष्ण ने उन्हें सार्वजनिक कल्याण के जिस कार्य का आदेश दिया था, उसे सार्थक रूप देने के निमित्त विवेकानंद ने सर्वप्रथम भारत भ्रमण किया। इस भ्रमण के दौरान उन्होंने चारों ओर से तिरस्कृत पीड़ित मानवता के तीव्र आवेदन को सुना तथा भारतवासियों की स्थिति का गंभीरतापूर्वक अवलोकन कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत के दुःख दारिद्रय को दूर करने के निमित्त, श्री रामकृष्ण की सार्वभौम उदार भावधारा के प्रचार का विशेष प्रयोजन है। उस कठिन कार्य के संपादन का गुरुतर दायित्व स्वतः अपने कंधों पर लेकर स्वामी जी ने अपनी भविष्य कार्य-पद्धति का भी एक सक्रिय रूप निश्चित किया। भारत के जन-साधारण का करुण आर्तनाद उनके हृदय को वेदना से भर दिया। अतः अपनी अनुभूति के प्रकाश में उन्होंने सोचा कि जब ब्रह्म सभी वस्तुओं में विद्यमान है- विशेषकर मानव-प्राणियों में, तो उसे प्राप्त करने के लिए संसार से दूर

55. वही : पृ० 79

जाने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः मनुष्य ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह कर्मभूमि पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि एकमात्र यहीं पर उसके पूर्णत्व को प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक संभावना है। यही नहीं, देवता आदि को भी पूर्ण होने के लिए जन्म ग्रहण करना होगा। यह मानव जन्म एक महान् केंद्र, अद्भुत स्थिति और अद्भुत अवसर है।[56] अतः मनुष्य की दुःख वेदना से अभिभूत उनकी चेतना मनुष्य रूपी नारायण की सेवा के लिए समर्पित हो गई। उन्होंने कहा था, "हमारी अपनी आत्मा ही सर्वोच्च स्वर्ग है, मानवात्मा ही पूजा के लिए सर्वश्रेष्ठ मंदिर है, वह सभी स्वर्गों से श्रेष्ठ है। कारण, इस आत्मा में उस सत्य का जैसा अनुभव होता है, वैसा और कहीं भी नहीं होता।"[57] इसलिए वह चाहते थे कि धर्म के क्षेत्र में मूर्ति रूप में साकार भगवान् की विधिवत् सेवा के स्थान पर मानवमात्र की सेवा का मार्ग अपनाया जाय। उनके अनुसार मानव के सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। जीवित ईश्वर हम सबके मध्य ही निवास करता है, फिर भी हम मंदिर, गिरजाघर आदि का निर्माण करते है और इस प्रकार की झूठी वस्तुओं में विश्वास करते हैं। वस्तुतः मानवात्मा ही एकमात्र उपास्य है। अतः यदि मनुष्य उसकी उपासना नहीं कर सका तो किसी भी मंदिर से कुछ भी उपकार न होगा। उनका दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य जिस क्षण प्रत्येक मानव-देहरूपी मंदिर में उपस्थित ईश्वर की उपलब्धि कर सकेगा तथा जिस क्षण मनुष्य प्रत्येक के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकेगा, उसमें ईश्वर का दिग्दर्शन कर सकेगा-उसी क्षण संपूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाएगा।[58] यही सबसे अधिक व्यावहारिक

56. विवेकानंद साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० 27-28 और देखिए - कर्मयोग, पृ० 5

57. *विवेकानंद साहित्य*, द्वितीय खंड, पृ० 27, 142 और भी देखिए - "संपूर्ण शास्त्र एवं विज्ञान मनुष्य के रूप में प्रकट होने वाली इस आत्मा की महिमा की कल्पना भी नहीं कर सकते। समस्त ईश्वरों में श्रेष्ठ है, एकमात्र वही ईश्वर है, जिसकी सत्ता सदैव थी, सदैव है और सदैव रहेगी। इसलिए मैं किसी अन्य की नहीं, बल्कि अपनी पूजा करूंगा।' वही, पृ० 212 और भी देखिये - "You are God and so am I; who obeys whom? Who worships whom? You are the highest temple of God; I would rather workship you than any temple, image or Bible". - Swami Vivekananda, Practical Vedanta, P. 51 और भी देखिए पृ० 80

58. "The living God is within you, and yet you are building churches and temples and believing all sorts of imaginary nonsense. The only God to worship is the human soul, in the human body. Of course, all animals are temples too, but man is the highest, the Taj Mahal of temples. If I cannot worship in that no other temple will be any advantage. The moment I have realized God sitting in the temple of every human body, the moment I stand in reverence before every human being and see God in him-that moment I am free from bondag, everything that binds, vanishes, and I am free. Practical Vedanta'. 52, और देखिए वही : पृ० 39 एवं 50

उपासना है। अमेरिका में एक बार अपने बंधुओं से वार्ता करते हुए स्वामी जी ने कहा था : 'उपासना का सबसे सरल और सर्वोत्तम मार्ग मनुष्य की सेवा करना है। जिसे मानव में ब्रह्म का दर्शन हुआ, उसने विश्वव्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया।[59] 12 नवम्बर, 1896 ई० को लंदन में दिया हुआ व्याख्यान स्वामी जी के मानववादी विचारों को पूर्ण रूप से प्रकाशित करता है। उसमें स्वामी जी ने बार-बार जीवित ईश्वर की पूजा का उपदेश दिया है, जो स्वतः हमारे आपके हृदय में सदैव विद्यमान है।

उनकी धर्मगत उदारता उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है, जब वे अनीश्वरवादियों में भी प्रछन्न रूप से ईश्वरत्व को प्राप्त करने की प्रेरणा देखते हैं। वे कहते हैं : "यद्यपि बौद्ध तथा जैन ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते तथापि उनके धर्म में, मनुष्य में देवत्व या ईश्वरत्व का विकास-इस महान् सत्य पर ही पूरा जोर दिया गया है और यही प्रत्येक धर्म का भी केंद्रस्थ सत्य है। उन्होंने जगत्पिता जगदीश्वर को भले न देखा हो, पर उनके पुत्र स्वरूप आदर्श मनुष्य बुद्धदेव या 'जिन' को तो देखा है और जिसने पुत्र को देख लिया उसने पिता को भी देख लिया।"[60]

स्वामी विवेकानंद ने मानव-जाति के कल्याणप्रद आदर्श के रूप में आत्म-विश्वास को प्रतिष्ठित करते हुए घोषित किया कि यह आत्मविश्वास ही मानव के भीतर अवस्थित देवत्व या ईश्वरत्व के विकास की कुंजी है। इसी के साथ यह भी उतना ही सत्य है कि अंततः ईश्वरत्व की प्राप्ति अपने ही को पाना है और इसी को आत्म-विश्वास का उत्कृष्टतम रूप कहा जा सकता है। उनका कहना है कि यदि हम आत्म-विश्वास को पा ले तो जगत् में जितना दुःख व कष्ट है, उसका अधिकांश समाप्त हो जायगा। वह यहां तक कहते हैं कि जिसमें आत्म-विश्वास नहीं हैं और नवीन धर्म कहता है, जो आत्म-विश्वास नहीं रखता वही नास्तिक है। वह नास्तिक है।[61] प्राचीन धर्म में कहा गया है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं रखता वही नास्तिक है। किंतु यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है, क्योंकि वेदांत एकत्ववाद की शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है सबके प्रति विश्वास क्योंकि हम सभी शुद्ध स्वरूप हैं। आत्मप्रीति का अर्थ है सब प्राणियों में प्रीति, क्योंकि हम उनसे भिन्न नहीं हैं। स्वामी जी का अटल विश्वास है कि इस महान् विश्वास पर ही समस्त जगत् की उन्नति निर्भर है।[62]

विवेकानंद मनुष्य को अनंत संभावनाओं का भंडार मानते हैं। मानवमात्र के अन्दर विद्यमान असीमित क्षमताओं का उद्घाटन करते हुए वह कहते हैं कि मनुष्य दिव्य है, यह दिव्यता व आनंद ही उसका शुद्ध स्वरूप है। अपने भाग्य के लिए वह

59. स्वामी विवेकानंद से वार्तालाप, पृ० 117 और भी देखिए - कर्मयोग, पृ० 23
60. हिंदूधर्म, पृ० 23-24
61. प्रैक्टिकल वेदांत, पृ० 19 और भी देखिए, कर्मयोग, पृ० 17
62. प्रैक्टिकल वेदांत, पृ० 19

स्वयं उत्तरदायी है- वह स्वयं अपने शुभाशुभ का कर्ता है।[63] मनुष्यत्व का धरातल देवत्व से भी ऊंचा है क्योंकि मनुष्य ही में देवत्व की स्थापना संभव है या यूं कहा जा सकता है कि मनुष्य ही अपने प्रयासों द्वारा अपने में निहित देवत्व की संभावना को यथार्थ कर सकता है। जब समस्त वासनाओं का अंत हो जायगा, तब यह नश्वर मानव ही अमर बनेगा- तब यह मानव ही ईश्वर बन जायगा।[64] स्वामी जी समस्त धर्मों का मूल इसी धारणा को मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि स्वर्ग का राज्य मानव के भीतर अवस्थित है किंतु प्रारंभ में उसका पूर्ण बोध उसे नहीं रहता। जब मनुष्य आध्यात्मिकता की काफी ऊंचाई प्राप्त कर लेता है, तभी वह समझ पाता है कि वस्तुतः स्वर्ग का राज्य उसके अंदर ही है वहीं मन का सच्चा साम्राज्य है।[65] वस्तुतः इसी अर्थ में मनुष्य अपने भाग्य का विधाता है।

स्वामी विवेकानंद ने शाश्वत प्रेम की वाणी में जिस व्यावहारिक वेदांत का उपदेश दिया, उसी को धर्म कहा और उसके अंतर्गत हिंदू धर्म में निहित अनासक्ति एवं वैराग्य की संकल्पना के साथ-साथ इस्लाम धर्म में निहित समता, ईसाई धर्म में निहित सेवा तथा बौद्य धर्म में निहित दया का समन्वय कर विश्व के समक्ष सर्व-धर्म-समन्वय का आदर्श मूर्तिमान किया। किंतु उन्होंने अपने व्यावहारिक वेदांत को विद्यमान सब धर्मों के स्थान पर नवीन धर्म नहीं बनाया। उन्होंने बताया कि अद्वैत दृष्टि सभी धर्मों का सार है। वस्तुतः वह ऐसे धर्म का प्रचार-प्रसार नहीं करना चाहते थे, जो विशिष्ट हो और सब धर्मों का स्थान ले ले, बल्कि वह समस्त धर्मों में विद्यमान धर्म में सारतत्व को रेखांकित करना चाहते थे। उन्होंने बराबर यही कहा कि सत् की अनेकों अभिव्यंजनाएं हैं। आवश्यकता है इस विविधता में एकता को मानने की और परमात्मा की उपासना में घृणा, हठधर्मिता और कट्टरता का सहारा न लेने की। उन्होंने कहा था समस्त धर्मजगत् भिन्न-भिन्न रुचि वाले स्त्री-पुरुषों का विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए ईश्वर लाभ के उस एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा करना है, अग्रसर होना है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव को ब्रह्म में परिणत करने में प्रयत्नशील है और वही ईश्वर इन समस्त धर्मों का प्रेरक है।" यही कारण है कि उन्होंने किसी भी धर्म को हीन नहीं बताया। सभी धर्मों के अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखने की सार्थकता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए विवेकानंद ने 27 सितंबर 1893 को धर्ममहासभा के अंतिम अधिवेशन में विश्ववासियों को संबोधित करके कहा : "ईसाई को हिंदू अथवा बौद्ध नहीं होना पड़ेगा, और न हिंदू या बौद्ध को इसाई ही, परंतु प्रत्येक धर्म दूसरे धर्मों के

63. विवेकानंद साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० 189, 140 और भी देखिए - कर्मयोग, पृ० 7
64. विवेकानंद साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० 215
65. वही : पृ० 233
66. हिंदूधर्म, पृ० 22

सार भाग को आत्मसात् करके पुष्टिलाभ करेगा और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त होगा।" स्पष्ट है कि स्वामी जी वेदांत के जिन उदात्त सत्यों का प्रतिपादन व्यावहारिक जीवन में करते हैं उनका मूल मंत्र है- 'सहयोग न कि विरोध', 'पर-भाव-ग्रहण न कि पर-भाव-विनाश, 'समन्वय शांति न कि मतभेद और कलह'।[67] इसके प्रकाश में स्वामी विवेकानंद समूचे विश्व में ईशपरायणता, त्याग, साम्य, मैत्री, विश्वमानवता, विश्वबंधुत्व और विश्वप्रेम का संदेश संचारित करते हैं। श्री रामकृष्ण द्वारा अनुप्राणित तथा उनके सुयोग्य भाव वाहक स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्थापित, आज विश्वभर में विस्तृत एवं विख्यात 'रामकृष्ण मिशन' इस समुन्नत त्याग, विश्वमानवता तथा सेवा-धर्म का ही मूर्त प्रतीक है।

स्वामी विवेकानंद सशक्त शब्दों में उद्घोषित करते हैं कि अद्वैतवेदांत बहुत गूढ़ विषय है, इसे सरलता से समझना जनसाधारण की पहुंच से बाहर है। फिर भी यही सत्य है और सही सत्य संपूर्ण मानवता को एकता के सूत्र में बांधने वाला है। उनकी इसी आधारशिला पर उन्होंने अपनी आचार संहिता की रचना की और उसके द्वारा वेदांत के व्यावहारिक स्वरूप को जन-साधारण के समक्ष प्रकाशित किया। उन्होंने मनुष्य की प्रकृति के अनुरूप सभी प्रकार के योगों की महत्ता को प्रतिपादित किया और यह दिखलाने की चेष्टा की कि सभी योग व्यक्ति को एक ही 'भावभूमि' पर लाकर खड़ा कर देते हैं। अन्य शब्दों में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं राजयोग की विशेषताओं को उन्होंने अत्यन्त ही सरल एवं ग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया है। सभी लोग अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं और व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार किसी का भी चयन कर सकता है। वह कहते हैं : "मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूं जो सब प्रकार की मानसिक अवस्था वाले लोगों के लिए उपयोगी हो, जिसमें ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म समभाव से रहेंगे।"[68] उनका अटूट विश्वास है कि इस प्रकार की साधना द्वारा हम धर्म के आदर्श को प्राप्त कर लेंगे। उनके शब्दों में, "इन चारों मार्गों का समतोल समन्वय हो जाए- यही धर्म 'मेरा' आदर्श है और इस धर्म की प्राप्ति, हम भारतीयों के शब्दों में 'योग' के द्वारा होती है, कर्मी के लिए इस 'योग' का अर्थ है व्यष्टि और समष्टि मानवता की एकता या अभेद। राजयोगी के लिए 'योग' का अर्थ है जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता या अभेद। भक्त के लिए अपने और अपने प्रेमास्पद भगवान् के बीच अभिन्नता ही योग है और ज्ञानी के लिए 'योगी' का अर्थ है यावत्-अस्तित्व का ऐक्य।"[69]

67. *स्वामी विवेकानंद से वार्तालाप*, पृ० 67
68. *धर्म रहस्य*, पृ० 40 और भी देखिए - *हिंदू धर्म*, पृ० 123
69. *हिंदूधर्म*, पृ० 125 और भी देखिए *धर्मरहस्य*, पृ० 41-42

स्पष्ट है ये सभी योग अपने-अपने दृष्टिकोण से उत्तम हैं, क्योंकि अंततः सभी एक ही केंद्र 'ईश्वर' की ओर अग्रसर करते हैं। स्वामी जी ने रामकृष्ण मिशन के मोनोग्राम में इन चतुर्योगों के अनूठे समन्वय को बड़े सुन्दर ढंग से अंकित किया है।[70] इस प्रकार सर्व-धर्म-समभाव में स्वामी जी का अटूट विश्वास बौद्धिक पक्ष में वेदांत के अद्वैत निर्वचन पर और परमात्मा की प्राप्ति के लिए हिंदूधर्म शास्त्रों द्वारा विहित चारों प्रकार के योगों की वैधता की मान्यता पर आश्रित है और भावनात्मक पक्ष में वह भगवत् प्रेम पर आश्रित है जिससे सभी मानवीय भेद-भाव मिट जाते हैं और समस्त मानव-प्राणी उसमें समाहित होते हैं।

स्वामी विवेकानंद ने जन साधारण व मानव मात्र की अवहेलना को महान् राष्ट्रीय पाप कहा है। उनके अनुसार मानव मात्र का सम्मान हमारे नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उत्थान की कुंजी है।[71] वह धर्म को कार्य में परिणत करने का बराबर उपदेश देते रहे। उनके अनुसार त्याग और सेवा-धर्म ही भारतीय धर्म और संस्कृति का प्राण है तथा मानवता के लिए स्नेह और दया की सच्ची धार्मिकता की परख है। इसीलिए वह सदैव पूजाभाव से सेवा का उपदेश देते रहे। उनका स्पष्ट विचार है कि कोई किसी की सहायता नहीं कर सकता, केवल सेबा कर सकता है। इसलिए यदि सौभाग्य मिले तो ईश्वर की संतानों की सेवा द्वारा स्वयं ईश्वर की सेवा करनी चाहिए।[72]

नरनारायण के एकनिष्ठ सेवक स्वामी विवेकानंद किसी भी राष्ट्र के कल्याण के निमित्त स्त्री जाति का अभ्युदय आवश्यक मानते हैं। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार किसी पक्षी का एक पंख से उड़ना संभव नहीं, उसी प्रकार नारी जागरण के बिना राष्ट्र का विकास भी संभव नहीं। अपने शिष्यों को संबोधित करते हुए वे कहते हैं: "स्त्रियों की पूजा करके ही सब जातियां बड़ी हुई हैं! जिस देश, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं होती वह देश, वह जाति कभी बड़ी नहीं हुई और न हो सकेगी। तुम्हारी जाति का जो अधःपतन हुआ है, उसका प्रधान कारण है — इन्हीं सब शक्ति-मूर्तियों की अवहेलना।"[73] अपने विचारों की पुष्टि के लिए स्वामी जी 'मनुस्मृति' का दृष्टांत देते हुए

70. चित्र में तरंगायित जलराशि कर्म का प्रतीक है, कमल भक्ति का तथा उगता सूर्य ज्ञान का। चित्र में दर्शायी हुई सर्प की आकृति योग एवं जाग्रत कुंडलिनी शक्ति की परिचायक है और चित्र के बीच जो हंस की छवि है, उसका अर्थ है परमात्मा अतएव कर्म भक्ति और ज्ञान इन तीनों का योग के साथ सम्मिलित होने पर ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। - स्वामी तेजसानंद, *रामकृष्ण संघ - आदर्श और इतिहास*, नागपुर, रामकृष्ण मठ, 1982, पृ० 41
71. *स्वामी विवेकानंद से वार्तालाप*, पृ० 32-33
72. स्वामी विवेकानंद, शिक्षा, नागपुर, रामकृष्ण मठ, 1985, पृ० 6, और भी देखिए कर्मयोग, पृ० 79
73. स्वामी विवेकानंद, *भारतीय नारी*, नागपुर, रामकृष्ण मठ, 1984, पृ० 14

कहते हैं। "जहां पर स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, जहां वे दुःखी रहती हैं, उस परिवार की, उस देश की उन्नति की आशा कभी नहीं की जा सकती। इसलिए पहले इन्हें उठाना होगा। इनके लिए आदर्श मठ की स्थापना करना होगी।[74] स्वामी जी भारत की प्रगति में व्यवधान उपस्थित करने वाले दो बड़े सामाजिक अनर्थों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं कि ये दो कुत्सित अनाचार हैं- स्त्री जाति के पैरों में पराधीनता की बेड़ी डाल रखना और निर्धन जनता को जाति भेद के नाम पर समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रखना।[75] उनका दृढ़ विश्वास है कि समाज के इन महत्वपूर्ण अंगों की प्रगति हुए बिना देश का उन्नतिशील होना असंभव है।

विवेकानंद ने भारतीय जन-जीवन की शिक्षा-विषयक विचारों में यह प्रतिपादित किया है कि आज भारत को मानवता तथा चरित्र का निर्माण करने वाली शिक्षा की नितांत आवश्यकता है। उनके मत से, सभी प्रकार की शिक्षा और संस्कृति का आधार धर्म होना चाहिए।[76] अपने इन विचारों को उन्होंने सदैव अपने व्याख्यानों में प्रस्तुत किया है। शिक्षा को परिभाषित करते हुए वह कहते हैं कि मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। मनुष्य को स्वावलंबी बनाने वाली शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है।[77] उसे आत्मसात् करने तथा व्यवहृत करने की आवश्यकता है। अन्य शब्दों में मात्र जानकारी हासिल करना ही शिक्षा नहीं है, बल्कि उसके अनुरूप जीवन का निर्माण करना है। वे कहते हैं कि यदि कोई केवल पांच ही परखे हुए विचार आत्मसात् कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर ले तो पूर्ण ग्रंथालय को कंठस्थ करने वाले किसी भी मनुष्य की अपेक्षा अधिक शिक्षित होगा, यदि शिक्षा का अर्थ मात्र जानकारी होता, तब तो पुस्तकालय संसार में सर्वोत्तम संत हो जाते और विश्वकोश महान् ऋषि बन जाते।[78]

स्वामी विवेकानंद अपने जीवनकाल में भंगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व में व्याप्त असीम करुणा की भावना तथा शंकराचार्य की मेघा शक्ति से विशेष प्रभावित रहे। उनका दृढ़ विश्वास था कि बुद्ध का निर्मल चरित्र और शंकराचार्य की मेधाशक्ति का समन्वय मानव विकास का चरमोत्कर्ष उपस्थित करा सकता है।[79] कहना न होगा कि स्वयं विवेकानंद के ओजस्वी व्यक्तित्व में हमें मानवता की इसी नियति का मूर्तरूप देखने को मिलता है।

74. वही : पृ० 14
75. वही : पृ० 47
76. वही : पृ० 11
77. शिक्षा, पृ० 1 और भी देखिए - "Education is the manifestation of the perfection already in man. Real Education is that which enables one to stand on one's own legs." *The Message of Vivekananda*, p. 6
78. शिक्षा, पृ० 7
79. *विवेकानंद साहित्य*, द्वितीय खंड, पृ० 98

भारतीय दर्शन के इतिहास में विवेकानंद का व्यक्तित्व न केवल अद्वैत दर्शन की गरिमा को स्थापित करता है, अपितु उसे एक ऐसी जीवन शैली में रूपांतरित करता है, जिसमें मनुष्य की गरिमा की शत-प्रतिशत स्थापना देखने को मिलती है। यही नहीं, अपने जीवन-काल में उन्होंने अपने देशवासियों के हृदय में देश के प्रति प्रेम और समर्पण का भाव जाग्रत किया, जिससे प्रेरित होकर अनेकों ने अपने जीवन को देश के लिए उत्सर्ग कर दिया। निःसंदेह राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में स्वामी जी का विशेष योगदान था, जिसे शब्दबद्ध करते हुए श्री अरविंद घोष ने उनकी मृत्यु पर उन्हें 'नरकेसरी'[80] की उपाधि से विभूषित कर उन्हें राष्ट्र की अमूल्य निधि के रूप में प्रस्तुत किया।

80. "यदि किसी को भारत का विराट् प्राणपुरुष माना जा सकता है, तो वह है एकमात्र विवेकानंद-नरकेसरी विवेकानंद। मैं देखता हूं कि उनके प्रभाव ने भारत की आत्मा को आलोड़ित कर दिया है। हम तो कहेंगे कि विवेकानंद आज भी अपने देशवासियों की आत्मा में जीवित हैं, देश जननी की संतानों की आत्मा में जीवित है।" स्वामी तेजासानंद, रामकृष्ण संघ - आदर्श और इतिहास, नागपुर रामकृष्ण मठ, 1982, पृ० 46-47 से उद्धृत।

अध्याय - 3

रवींद्रनाथ टैगोर (1861-1941)

दार्शनिक दृष्टि

टैगोर मूलतः कवि दार्शनिक थे, शास्त्रीय अर्थ में दार्शनिक नहीं। उनके व्यक्तित्व में भावनाओं एवं अनुभूतियों का प्राधान्य था - जिसमें शुष्क, नीरस, सूक्ष्म तर्क-वितर्कों का कोई स्थान नहीं था। उनका दर्शन क्लिष्ट तार्किक पद्धति पर आश्रित न होकर एक मनीषी द्रष्टा की अनुभूति पर आश्रित है। वे स्वयं कहते हैं : "मैं कोई विद्वान् या दार्शनिक नहीं हूं।"[1] किंतु यह उनकी महानता है। जीवन और जगत् के स्वरूप की व्याख्या के विषय में युक्तियां न प्रस्तुत करते हुए भी मानव-जीवन के लक्ष्य के विषय में प्रत्येक महान् साहित्यिक विद्वान अवश्य ही कोई न कोई विराट् संदेश हमें देता है। मानव में असीम आस्था और उसके सौंदर्यपूर्ण कलात्मक रहस्यों के उद्घाटन का एक महान् प्रयास हम टैगोर के ग्रंथों में पाते हैं। अतः जहां तक जीवन दर्शन है वह रवींद्रनाथ टैगोर में उपलब्ध है। उनके अपने नैतिक अंतनः दार्शनिक विचारों की सुस्पष्ट अभिव्यंजना में भावनात्मक तत्व का प्राबल्य होने के कारण उनके विचारों की अनेक व्याख्याएं संभव हैं। किंतु उनके दार्शनिक पक्ष कीं हम किसी भी प्रकार की व्याख्याएं क्यों न करें, हमें उनके मानववाद में संदेह नहीं हो सकता।

उन्होंने संपूर्ण विश्व को परम सत्ता का प्रकाशन माना किंतु उनका दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य को अपने ही श्रेष्ठतम रूप में परम सत्ता को प्रतिष्ठित करना चाहिए। इसलिए उनके दर्शन में नर-देवता की अनूठी कल्पना की गई और नर-देवता की सेवा तथा पूजा ही परम सत्ता की श्रेष्ठ उपासना-पद्धित के रूप में स्वीकार की गई। टैगौर के इस अतिशय मानववादी स्वर के साथ न्याय करने के लिए उनकी दार्शनिक दृष्टि को समझना आवश्यक है।

1. टैगोर, रवींद्रनाथ, दि रिलीजन ऑफ मैन, लंदन, जार्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, 1958, पृ० 90

टैगोर की मूल दृष्टि समन्वयवादी थी। उपनिषदों का प्रभाव उन्हें पारिवारिक विरासत में मिला था।[2] इसके अतिरिक्त उन पर वैष्णव धर्म और कबीर व दादू जैसे संत कवियों तथा बंगाल के लोक गीतों को गाने वाले बाउलों[3] का भी प्रभाव था। इसके साथ ही वे पश्चिमी साहित्य से भी भली-भांति परिचित थे। पर उनकी मूल दृष्टि शत-प्रतिशत ऋषि परंपरा के अनुकूल थी।

रवींद्र मुख्यतः कवि थे। उनकी रचनाओं में स्वरों का वैविध्य है, जिसके कारण उनकी कृतियों की व्याख्या विद्वानों द्वारा अनेक प्रकार से हुई है। विद्धानों ने उन्हें भेदवादी, अभेदवादी, सर्वेश्वरवादी आदि अनेक रूपों में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।[4] किंतु सच्चाई तो यह है कि वादों-जैसी कोई बात रवींद्र-दर्शन में नहीं है, क्योंकि वाद सुनिश्चित एवं एकांतिक होते हैं। उनमें कवि दृष्टि को बांधना उचित नहीं। कवि रवींद्र की दृष्टिगत एकता विविध संदर्भों में विविध रूपों में व्यक्त हुई है। उनकी इसी एकता में उनके दर्शन की पहचान निहित है जिसे पकड़ने का प्रयास इन पृष्ठों में किया जाएगा।

ईश्वर एवं जगत्

ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर टैगोर का मन सर्वेश्वरवादियों के समान ईश्वर के कण-कण में स्वीकार करना चाहता है, तो दूसरी ओर उनका हृदय उसे प्राप्त करने की दृष्टि से वैष्णव दर्शन की प्रेम पद्धति को स्वीकार करने के लिए कृतसंकल्प है। इन दोनों स्वरों का अद्भुत समन्वय रवींद्रदर्शन को उसकी विशिष्टता प्रदान करता है। स्वयं रवींद्र का कहना है : "सत्य की सीमा में संपूर्ण विश्व का समावेश है और किसी भी वस्तु का अस्तित्व अन्य सबसे पृथक् नहीं रह सकता और सत्य की प्राप्ति का सच्चा रास्ता संपूर्ण विश्व की विभूतियों में स्वात्मानुभूति करना ही है।"[5]

इस प्रकार रवींद्र की दार्शनिक स्थिति आध्यात्मिक एकत्ववादी दार्शनिकों-जैसी है। उनके विशाल साहित्य में हम कहीं भी द्वैत अथवा बहुतत्ववाद का समर्थन नहीं

2. दि रिलीजन आफ मैन, पृ ० 91
3. वही, पृ० 110
4. दासगुप्त एवं डा० राधाकृष्णन् उन्हें अभेदवादी अद्वैतवादी परंपरा में रखते हैं। डा० डी० एम० दत्ता एवं पी० नागराज राव ने उन्हें भेदवादी-भक्तिवादी बताया है। डा० दत्ता ने तो उन्हें प्रतिबंधित अर्थ में ही भक्तिवादी परंपरा में रखा है। किन्तु डा० नागराज राव ने उन्हें स्पष्ट रूप से भेववादी भक्तिवादी बताया है। कुछ विद्वान् उन्हें सर्वेश्वरवादी घोषित करते हैं। और कुछ एकेश्वरवादी। डा० नरवणे का कथन है कि 'वस्तुतः दोनों परंपराओं में जो सर्वोत्कृष्ट था, उसे टैगोर ने लिया।'
5. ठाकुर, रवींद्रनाथ, साधना, (अनु०) सत्यकाम विद्यालंकार, दिल्ली, राजपाल एन्ड सन्स, कश्मीरी गेट, 1972, पृ० 6-7

पाते। वे दृढ़ता से सर्वत्र ईश्वर की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं और अपने पक्ष में उपनिषदों से महावाक्यों को उद्धृत करते हैं। केनोपनिषद् का प्रथम मंत्र है :

"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः केनेषितां।
वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोतं क उ देवो युनक्ति।"

रवींद्र ने अपनी अनेक साहित्यिक व दार्शनिक कृतियों में इसी विराट् देवाधिदेव की आराधना की है। इसी अनंत शक्ति की साधना में अपनी समस्त शक्ति को वे उत्सर्ग करना चाहते हैं। वे स्वयं कहते हैं, "भारतीय मन तो उस अनंत व्यापक शक्ति को सृष्टि के हर कण में, अणु-अणु में व्याप्त मानकर उसका हृदय से स्पर्श करने की साधना करता है। यही साधना भारतीय जीवन की पथ-प्रदर्शिनी रहती है।"[6] कवि रवींद्र की प्रतिभा ने यह आंक लिया था कि सारे विश्व में एक ही परम सत्ता की धारा बह रही है। यही नहीं उनका तो कहना है कि संसार आत्मा को परमात्मा द्वारा दिया गया उपहार है।[7] अतएव उनका द्वैत में विश्वास नहीं था। सांख्य की भांति वह प्रकृति और पुरुष को सर्वथा भिन्न नहीं मानते। वह सर्वत्र ईश्वर का वास मानते हुए कहते हैं:

"आकाश तुम्ही हो, नीड़ तुम्हीं, आधार एक मेरे सुंदर
निज प्रेम-नीड़ में प्रतिपल ही रखते प्राणों को आवृत कर
बहु वर्णों में, बहु गीतों में, बहु गंधों में मन मोहित कर।"[8]

एकत्व की उनकी अनुभूति उपनिषदों के परिशीलन तथा स्वानुभव पर प्रतिष्ठित थी। उपनिषदों के ऋषियों का मूलभूत संदेश था - "आयमात्मा ब्रह्म" तथा "ईशावास्यमिदं सत् यत्किंच जगत्यां जगत्"। सर्वत्र आंतरिक जगत् हो अथवा बाह्य, उन्हें आध्यात्मिक चिन्मय ब्रह्म का अवबोध होता था। उपनिषद् के ये महावाक्य उनके विश्व-दर्शन की आधार शिला हैं। अतएव रवींद्र को भी सर्वत्र ही चिन्मय पूर्णता का भास होता है। यह पूर्णता ही उनके दर्शन का केंद्र है। इसके समर्थन में वे तार्किक युक्ति का उपयोग नहीं करते, अपितु हृदय की अनुभूति को ही इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते है। क्योंकि तार्किक युक्तियों द्वारा परमसत्ता का केवल बाह्य परिचय प्राप्त होता है, वे परमसत्ता के साथ पूर्ण संयोग की स्थापना करने में असमर्थ हैं। उनकी अनुभूति सिंचित दृष्टि तथाकथित ध्यान या योग या केवल अनुभूति से सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः यह अनुभूति के श्रेष्ठ विकास प्रेम शक्ति का ही प्रयोग है। उनका विश्वास था कि इसका ज्ञान एकत्व के अनुभव द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। एकत्व की चेतना के विषय में उन्होंने

6. वही, पृ० 19
7. ... I know that my world exists in relation to me, and I know that it has been given to the personal me by a personal being. - Tagore, Ravindra Nath, *Personality*, Macmillan Company of India Ltd., 1977, p. 69
8. टैगोर, *गीतांजलि*, अनु० मुरलीधर श्रीवास्तव, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाकशन, 1976, पृ० 76

'दि रिलिजन आफ मैन' के प्रारंभ में ही कहा है: "इस एकत्व के आदर्श में मानव शाश्वत का अपने जीवन में और अनंत का अपने प्रेम में साक्षात् अनुभव करता है। वह एकत्व व्यक्तिनिष्ठ कल्पना मात्र नहीं है, वह एक स्फूर्तिदायक सत्य है। हम इसे कुछ भी नाम दें, कुछ भी इसका रूप मानें, एकत्व की चेतना दिव्य है और हमारा उसके प्रति निष्ठावान् होने का प्रयत्न ही हमारा धर्म है।"[9] सर्वत्र उन्हें पूर्ण सर्वेश्वर सर्ववित् तत्व के प्राण स्पंदन का एहसास होता है। बाह्य जगत् में भी सर्वदृक् आत्मा का दर्शन करना उनके अनुसार प्राच्य संस्कृति की विशेषता है।

रवींद्र अपनी साहित्यिक कृतियों में यत्र-तत्र उपनिषद् के महावाक्य 'एकमेवाद्वितीय' को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं :

"तुम जहां हमारी आत्मा के संचरण हेतु हो महाकाश
संसार-क्षेत्र में शोभित है उस स्थल पर तेरा शुभ्र हास
दिन नही, वहां पर रात नहीं कोई न वहां जन प्राणी है
है वर्ण नहीं है गंध नहीं, कोई न वहां पर वाणी है।"[10]

इन्हीं विचारों को वे अपनी कृति 'क्रिएटिव यूनिटी' में व्यक्त करते हुए कहते हैं 'अनंत का गुण परिमाण का विस्तार नहीं है, वह इसके अद्वैत में है जो एकता का रहस्य है'[11]

रवींद्र का दार्शनिक मन इस शब्दातीत अद्वैत को स्वीकार तो कर लेता हैं, किन्तु यह कवींद्र रवींद्र को संतुष्ट नहीं कर पाता। जिस परमसत्ता का बौद्धिक वर्णन केवल नकारात्मक है, जिसका रूप केवल 'नेति-नेति' रह जाए वही निरपेक्ष सत्य उनकी कल्पना से सृजित पुरुषोत्तम की प्रतिभा का रूप धारण कर उनमें अनगिनत भावों को उत्पन्न करता है। टैगोर अपनी कविताओं में इसी मूर्तिमान व्यक्तित्व को संबोधित करते हैं, इसी के सान्निध्य की आकांक्षा करते हैं और इसी के सम्मुख चुपचाप बैठ समर्पण के गीत गाते हैं। इसी को वे कभी अनंत, कभी असीम, कभी परमतत्व और कभी जीवन देवता के नाम से पुकारते हैं। 'गीतांजलि' में उनके शब्द उनके इसी भाव को सशक्त रूप से अभिव्यक्त करते हैं :

"सीमा मध्य असीम बजाया करते हो तुम निज सुर
मेरे मध्य प्रकाश तुम्हारा इसीलिए वह सुमधुर
कितने वर्णों में, गधों में,
कितने गानों में, छन्दों में

9. *दि रिलीजन ऑफ मैन*, पृ० 15-16
10. *गीतांजलि*, पृ० 76
11. टैगोर, रवींद्रनाथ, क्रिएटिव यूनिटी, पृ० 4, लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र, तथा शिवानंद शर्मा (सं०) *समकालीन भारतीय दर्शन*, लखनऊ, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1974, पृ० 115-116, से उद्धृत।

हे अरूप तेरे रूपों की लीला जाग्रत अंतर
मेरे मध्य प्रकाश तुम्हारा इसीलिए वह सुमधुर।"[12]

पुनः

"जहां निभृत में प्राण-देवता
जाग रहे एकाकी
भक्त खोल दो द्वार, आज
पा लूं मैं झांकी।"[13]

जब हम टैगोर के प्रकृति-दर्शन पर दृष्टि डालते हैं तो सत्ता संबंधी उनके ये बिचार और भी स्पष्ट हो जाते हैं। रवींद्र प्रकृति को जड़ नहीं मानते। वे प्रकृति में परमात्मा को अंतर्निहित मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि वैचित्र्यमय, नानाविध, प्राकृतिक वस्तुओं में ईश्वरीय कर्तृत्व अविच्छिन्न रूप से व्यक्त हो रहा है। इसीलिए उन्हें प्रकृति में आनंद की थिरकन दिखाई देती है - 'डाले-डाले आनन्द नाचे'। कवि वर्ड्सवर्थ भी प्रकृति को जड़ नहीं मानते थे किन्तु वर्ड्सवर्थ का प्रकृति प्रेम केवल मानवीय स्तर का है। रवींद्र प्रकृति को दिव्य मानते हैं। प्रकृति के सौंदर्य में वह अपने प्रियतम की ही छटा निहारते हैं। सारी प्रकृति, समस्त विश्व, ईश्वर से परिव्याप्त है:

"तुम हो मेरे पास तुम्ही मेरे अपने हो,
मेरे प्रियतम तुम्हीं यही मुझको कहने दो
निखिचल धरा, नभ भरा तुम्हीं से है यह सारा
यही बात बस नाथ हृदय से तुम कहने दो।"[14]

प्रकृति के दिव्यत्व को स्वीकार करते हुए रवींद्र का कहना है कि इसीलिए भारत ने अपने तीर्थ स्थानों का चुनाव ऐसे ही स्थलों पर किया जहां प्रकृति का सौंदर्य विशेष दिव्यता के साथ प्रकट हुआ, जिससे मनुष्य का मन संकीर्ण आवश्यकताओं से घिरे संसार को भूलकर विस्तीर्ण प्रकृति में अपने महत्व का अनुभव कर सके।[15] प्रकृति का सौंदर्य ईश्वर के आनंद की ही अभिव्यक्ति है। ईश्वर के उसी आनंदपूर्ण चरणपात से छह ऋतुएं आनंद विभोर होकर नृत्य करती हैं। उसी आनंद से पृथ्वी में वर्ण, गीत, और सुगंध की बाढ़ आ गयी है:

"उल्लसित जब चरण पड़ते,
मत्त षट्ऋतु नृत्य करतें,
वर्ण गीतों में धरा पर उमड़ती सी गंध में।"[16]

12. *गीतांजलि*, पृ० 213
13. *गीतांजलि*, पृ० 155
14. वही, पृ० 158 और भी देखिए पृ० 60
15. *साधना*, पृ० 12
16. *गीतांजलि*, पृ० 79

प्रकृति के विविध रूपों में अनुभूत आनंद का अंकन रवींद्र अपनी प्रकृति-संबंधी कविताओं में करते हैं। किंतु उनमें प्रकृति के अनुरूप व सुंदर पक्ष से उद्भूत भावना का प्रदर्शन मात्र नहीं है, वे उसके पृष्ठभूमि में व्याप्त सत्ता पर कौतूहल व्यक्त करती हैं। उदाहरण स्वरूप, नीले आकाश में तिरते शरद् के बादल नीचे धान के खेतों पर अपनी छाया डाल रहे हैं। प्रकृति कें इस सौंदर्य को अपनी एक कविता में चित्रित करते हुए उन्हें उस सूत्रधार की याद आती है, जिसका हाथ पीछे से इस खेल का संचालन कर रहा है, और वे कहते हैं:

"धान-खेतों की धूप छांव में
आंख-मिचौनी खेला
धवल मेघ नौका को जिसने
नील गगन में डाला।"[17]

पुनः

"आज झर रहा है झर-झर जल
भरा हुआ है बादल

"दौड़ रहा जल तितर-वितर कर
धरती ऊपर,
कौन नृत्य कर रहा मेघ की
जटा उड़ा कर।"[18]

और पुनः

"नदी पार के इस असाढ़ का सुंदर सरस विहान
रे मन, इसे खींच कर भर ले अपने पुलकित प्राण
हरे नील में स्वर्ण मिलाया
जिसने यहां अमृत बरसाया
जाग्रत किया गगन में उसने शब्द गंभीर महान
रे मन, इसे खींच कर भर ले अपने पुलकित प्राण।"[19]

धीरे धीरे अनेक अनुभवों द्वारा, प्रकृति की विविधता में अंतर्व्याप्त अदृश्य का वास्तविक स्वरूप, उनके समक्ष स्पष्ट हुआ। जैसा कि वे कहते हैं अपने वैदिक पूर्वजों के समान वे यह अनुभव करने लगे कि प्रकृति के विभिन्न रूपों के पीछे कोई एक व्यापक तत्व काम कर रहा है। इस प्रकार प्रकृति की विविध छवियों में उन्होंने एक ही अंतर्यामी की उपस्थिति का अवलोकन किया। 'रिलीजन ऑफ मैन' में उनके भाव कुछ

17. वही, पृ० 124 और भी देखिए वही, पृ० 133
18. वही, पृ० 136
19. *गीतांजलि*, पृ० 208

इस प्रकार व्यक्त हुए हैं : 'जल से भरे बादलों के एक साथ घिर आने का कौतुक, नारियल के पेड़ों को प्रचंड वेग से झकझोरते तूफान के आकस्मिक झपाटे, गर्मियों की दुपहरी का भयानक सूनापन और शरद् में प्रातः ओस के आवरण में से उभरता शांत सूर्योदय मेरे मन को अपने साहचर्य की घनिष्टता से व्याप्त रखते थे।'[20]

इस प्रकार रवींद्र के विचार अंततः जगत् की सर्वेश्वरवादी धारणा के निकट आते हुए प्रतीत होते हैं। उन्हें लगता है कि प्रकृति में सर्वत्र एक ही तत्व क्रियाशील है और विभिन्न शक्तियों की बाह्य रूप से परस्पर-विरोधी लगने वाली खींचतान के बावजूद, वह उसे एकता व तालमेल दे रहा है। इसमें सब कुछ अस्थिर है। जन्म और मृत्यु, विनाश और सृजन उसके चिरंतन नृत्य की लयताल है। वे स्वयं कहते हैं: "व्यवस्था की इस खोज का ही दूसरा नाम समता या एकता की तलाश है। हम अपने बाह्य उपकरणों की विषमताओं में आन्तरिक एकता की सहायता से समभाव स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं... इस एकत्व का आधार वही सत्य है, जो अनेक को व्याप्त करके सबमें रहता है। अस्तित्व तो अनेक घटनाओं का है किंतु सत्य एक ही है।"[21]

इस प्रकार प्रकृति में उन्हें निर्वैयक्तिक रूप से काम करने वाला एक विश्वदेव-ईश्वर मिला। कवि के जीवन की यह एक प्रमुख उपलब्धि है जो शक्ति इस विश्व में लीला कर रही है, वह सर्वत्र ही विराजमान है, वह प्रत्येक देश, प्रत्येक काल, प्रत्येक मन और प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। 'अरूपरतन' नाटक की भूमिका में रवींद्र ने लिखा है- "जो प्रभु सब देशों में, सब कालों में, सब रागों में, सब रूपों में है, जिसे अपने हृदय के आनंद रस में उपलब्ध किया जा सकता है, इस नाटक में उसका ही वर्णन है।"[22] इस प्रकार जो सर्वत्र विराजमान है, उसकी उपलब्धि कर दूर के लोग निकट और पराए अपने हो जाते हैं, कवि के शब्दों में:

"तुझे जान लेने पर कोई नहीं पराया रह जाता है
कहीं न रोक-टोक रहती है कहीं न कोई डर रहता है।
सबके बीच विराजित तू है मुझको यह चिरदर्शन माया,
किया दूर को निकट, बनाया सगा उसे, जो रहा पराया।"[23]

20. The wonder of the gathering clouds hanging heavy with the unshed rain, of the sudden sweep of storms arousing vehement gestures along the line of Coconut trees, the fierce loneliness of the blazing summer noon, the silen sunrise behind the dewy veil of autumn morning, kept my mind with the intimacy of a pervasive companionship. *The Relgion of Man*, p. 92
21. *साधना*, पृ० 25-26
22. ठाकुर, रवींद्रनाथ, अरुपरतन, अनु० राजेश दीक्षित, दिल्ली: प्रभात प्रकाशन, 1994, पृ० 3-4
23. *गीतांजलि*, पृ० 71

इस कारण उस परमसत्ता की खोज में न मंदिर का आश्रय लेने की आवश्यकता है और न ही अंतर में समाधिस्थ होने की। वह आस-पास, दूर-निकट, अतीत-वर्तमान, भीतर-बाहर, सब में विद्यमान है। उसका कोई भिन्न, स्वतंत्र अस्तित्व नहीं इसलिए इस विश्व में उसे न खोजकर यदि अन्यत्र खोजने जाए तो वह नहीं मिलेगा:

"पूजन-भजन साधनाराधन
रहने दे तू एक किनारे
मंदिर का पट बंद किये क्यों देवालय के द्वार
बैठा हुआ यहां है ओ रे।"[24]

ईश्वर हम से दूर, मंदिरों में नहीं है। वह हमारे भीतर है। वह अदृश्य रूप से जीवन और मृत्यु, आनंद और पीड़ा, पाप और पुण्य, मिलन और वियोग में व्याप्त है। यह पृथ्वी स्वयं उसका 'चिरंतन मंदिर' है। इसमें नवीन कुछ नहीं है, इसमें हर वस्तु निरंतर परिवर्तनशील है। फिर भी इसकी गहरी एकता का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि इस बहती विविधता में एक ध्रुव सत्य व्यक्त है।

ईश्वर एवं आत्मा

ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वेश्वरवादी स्वर की यह अतिशयता टैगोर को संतुष्ट नहीं कर सकी। वे उस सर्वव्यापी शक्ति के साथ भावनात्मक स्तर पर और भी गहरे संपर्क के लिए लालायित थे। ईश्वर के साथ प्रेम का आदान-प्रदान करना चाहते थे जो कि प्रकृति में व्याप्त निर्वैयक्तिक ईश्वर के साथ संभव नहीं था।

रवींद्र की भावनात्मक आवश्यकताएं ईश्वर को एक व्यक्तित्व का आवरण देना चाहती थी अन्यथा एक विराट् और व्याप्क तत्व, मानव प्राणियों जैसे तुच्छ इकाइयों से प्रेम कर सकता है, यह कैसे कल्पना की जा सकती है। इस समस्या पर गहराई से विचार करने पर उन्हें प्रकृति की ही पुस्तक से इसका समाधान मिला। उसका संकेत टैगोर ने सूर्य-धर्म का वर्णन करते हुए 'उत्सर्ग' में बहुत आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है:

"आमि विपुल किरणे भुवन करि जे आलो
तबु शिशिर टुकुरे धरा दिते पारि
बासिते पारिजे भाल।"[25]

सूर्य अनंत ऊर्जा का स्रोत है, वह अपनी किरणें करोड़ों मील अंतरिक्ष से सारे संसार में भेजता है। घास के ऊपर अनिश्चित रूप से लटकी ओस की बूंद इतनी तुच्छ दिखती है कि सामान्यतः वह सूर्य के ध्यान देने योग्य नहीं लगती। किन्तु सूर्य की

24. गीतांजलि, पृ० 11
25. वंद्योपाध्याय, हिरण्मय : *रवींद्रदर्शन*, अनु० डा० अनिलवरण गंगोपाध्याय, दिल्ली: श्री भारत भारती (प्राइवेट) लि०, 1965, पृ० 63 से उद्धृत।

किरणें उस पर झलकती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि विराट् सूर्य दोहरी भूमिका निभा सकता है, एक निर्वैयक्तिक जीवनदायी शक्ति के रूप में वह अनंत क्षेत्र में फैलता है और साथ ही ओस की नन्हीं बूंद पर भी अलग से ध्यान दे सकता है। प्रकृति से शिक्षा लेते हुए टैगोर ने सोचा कि परमतत्व दो भिन्न स्तरों पर कार्य करने की क्षमता रखता है। विश्व के आधारभूत तत्व के रूप में ईश्वर एक निर्वैयक्तिक अनंत शक्ति है। परन्तु दूसरे स्तर पर, जहां वह आनंद चाहता है, वह एक व्यक्तित्व ओढ़ सकता है और मानव प्राणियों के साथ प्रेम का नाता स्थापित कर सकता है। रवींद्र इसे आनंद का स्तर कहते हैं। इसका अद्‌भुत साक्ष्य हमें कवि रवींद्र के ही व्यक्तित्व में नहीं मिलता बल्कि अनेकों संतों एवं भक्तों के जीवन में मिलता है, जिन्होंने ईश्वर की अनेकों भावों के तहत आराधना की और ईश्वर से उन्हें उन्हीं भावों के अनुरूप उत्तर भी मिला।

यहां रवींद्र पर वैष्णव मत का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वे कहते हैं: "ईश्वर ने स्वयं को मनुष्य के आकार में बांध लिया है, इसी में मानव की यशस्विता है। सीमित संसार के अद्‌भुत संगीत में वह अपने को प्रत्येक स्वर में बांधता है और इस सौंदर्य संगीत में प्रेम भरता है। सौंदर्य का प्रयोजन ही हमारे हृदय को मोहना है, इसका दूसरा अर्थ संभव ही नहीं है। सृष्टि के हर रंग से, हर संगीत से और हर सुंदर रूप से प्रेम का संदेश आता है।"[26] रवींद्र का कवि मन यह कल्पना करता है कि वैयक्तिक ईश्वर स्वयं अपनी चरितार्थता के लिए अलग-अलग लोगों का प्रेम प्राप्त करने को उत्सुक है। उनका यह विश्वास था कि प्रकृति में सौंदर्य का जो इतना प्राचुर्य है, वह आनंद की और उस आनंद को मानव हृदयों तक पहुंचाने की उसकी इच्छा से ही प्रेरित है। अन्य शब्दों में प्रकृति में व्यक्त सौंदर्य मानव हृदयों को आनंदित करने के लिए हैं और ईश्वर के साथ प्रेम का नाता जोड़ने के आमंत्रण हैं।"[27] उनका विश्वास है कि

---

26. साधना, पृ० 95 और भी देखिए-
    अंतरतम में जो बसता है।
    निज सुगंभीर स्पर्श में मुझ में
    वह जीनव भरता है।
    इन आंखों पर मंत्र छिड़कता
    उर का वीणा यंत्र बजाता
    छंद तथा आनंद जगाता
    सुख दुख में रहता है।
    वही प्राण में आ भर जाता
    बहु परिचय बहु नामरूप ले
    रस बरसा करता है। गीतांजलि, पृ० 81
27. यह तेरा ही प्रेम हमारे
    हृदय हरण हे।

प्रकृति में व्यक्त सौंदर्य से हमें जो आनंद की अनुभूति होती है, उसकी व्याख्या केवल इसी तरह के सिद्‌धांत से हो सकती है। 'रेलिजन ऑफ मैन' में वे कहते हैं: "गुलाब से हमें जो आनंद मिलता है, उसका सार उसकी पंखुरियों की गोलाई में कदापि नहीं हो सकता, जैसे कि संगीत के आनंद का सार ग्रामोफोन रिकार्ड में नहीं हो सकता। जैसे भी हो, हमें ऐसा लगता है कि गुलाब के द्वारा प्रेम की भाषा हमारे हृदय में पहुंची है।"[28]

ऐसा प्रतीत होता है कि परम तत्व की दोहरी भूमिका में यह विश्वास एक अंतर्दर्शन की अनुभूति से उनके हृदय में और पुष्ट हो गया। उन्होंने अपने अनुभव को इस प्रकार शब्दबद्‌ध किया: "एक दिन प्रातः काल जब कि पेड के पिछले भाग पर सूर्य की किरण पड़ रही थी, मैं खड़ा उसे देख रहा था, अकस्मात् मैंने अनुभव किया कि दीर्घस्थायी कुहरा एक पल में हमारी आंखों के सामने से छंट गया और उषा के आलोक ने हमारी पृथ्वी के मुख पर एक आभ्यंतर आनंद की द्‌युति को प्रकाशमान कर दिया। सामान्य जीवन का अदृश्य पर्दा समस्त वस्तुओं और समस्त मनुष्यों के बहुत दूर चला गया और सबके मूल तार्त्पय ने हमारे मन में एक गंभीर भाव का प्रकाशन किया और मानव हृदय का संदेश वही है यही है सौंदर्य की संज्ञा। इस अनुभव में जो वस्तु स्मरणीय है, वही है मानव व्यक्तित्व बोध के अतिरिक्त जगत् में हमारी चेतना का आकस्मिक विस्तार।"[29]

    पात-पात आलोक नाचता
    कनक-वरण हे।
    मेरा नयन प्रभात प्रभा धारा में बहता
    प्राणों में तब प्रेम मयी वाणी है भरता
    झुका हुआ है तेरा मुखड़ा
    मेरे मुख पर नयन तब गढ़ा
    छूता मेरा हृदय तुम्हारा
    आज चरण हे।
    - गीतांजलि, पृ० 66

28. The final meaning of the delight which we find in a rose can never be in the roundness of its petals, just as the final meaning of the joy of music can not be in a gramophone disc. Somehow we feel that through a rose the language of love reached our heart.
    - Tagore, Ravindranath, *The Religion of Man*, London: George Allen & Unwin Ltd., 1958, p. 105
29. One day while I stood watching at early dawn the sun sending out its rays from behind the trees, I suddenly felt as if my sight, and the morning light on the face of the world revealed on inner radiance of joy. The invisible screen of the common-place was removed from all things and all men, and their ultimate significance was intinsified in my mind; and this is the definition of beauty. That

उन्होंने यह भी कहा था कि यही अनुभव उनकी 'निर्झरेर स्वप्न भंग' कविता की प्रेरणा है। सूर्य की किरण के स्पर्श से अकस्मात् निर्झर को पत्थर की कारा को तोड़ कर सागर के आह्वान पर उससे मिलने की शक्ति मिली।[30] यहां निर्झर कवि का मन है और सागर है परम सत्ता उस परम सत्ता से मिलने की तीव्र आकांक्षा से उन्हें पूर्ण आत्म-समर्पण की प्रेरणा मिली। सत्ता की उपस्थिति का एहसास एवं समर्पण के भाव उन्होंने अनेक संदर्भों में व्यक्त किये हैं। 'रिलीजन ऑफ मैन' में उन्होंने अपनी अनुभूतियों को इस प्रकार व्यक्त किया है: एक दिन जब वे नहाने की प्रतीक्षा में एक क्षण के लिए खड़े, खुली खिड़की के पार देख रहे थे, उन्हें अंतर्दर्शन हुआ, 'अचानक मुझे अपने भीतर आत्मा में एक हलचल-सी महसूस हुई। अनुभव का मेरा संसार एक क्षण को जगमगा उठा और जो तथ्य विच्छिन्न तथा धुंधले थे, उनमें अर्थ की पहले से अधिक संगति आ गई।[31]

सारांश यह है कि उन्होंने अनुभव किया कि विश्व में व्याप्त जो ईश्वर अनंत और निर्वैयक्तिक है, वही सच्चे भक्त के हृदय को अभिभूत करता है और उसके स्पर्श से हृदय जिस नूतन आभा से आलोकित हो उठता है, वह विरल है और अप्रतिम भी और इसी रूप को प्राप्त करना उसके जीवन का लक्ष्य भी है। इसी के साथ कवि रवींद्र उस अवसर की विशेषता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह अपरिमित सत्ता मेरे व्यक्तित्व की परिधि में सहसा समाविष्ट हो गयी और मेरे इतने निकट आ गई कि मुझे लगा कि वह मेरे स्नेह और सहयोग की आकांक्षी है।[32] इसे वे जीवन को निर्देशित करती है, ढालती है और उसे एक संगति व दिशा प्रदान करती है। वह अनुभूति उनकी जिन कविताओं की प्रेरणा थी, उनका परिचय उन्होंने स्वयं जीवन देवता-श्रेणी की कविता कह कर दिया।[33]

यह एक अनोखी धारणा है, जिसकी दर्शन या धर्म के क्षेत्र में अन्यत्र कोई उपमा नहीं मिलती। इसका आधार दार्शनिक विवेचन की अपेक्षा निजी अंतर्दर्शन है। इसलिए इसके तर्कसंगत आधार न होने का आक्षेप सर्वथा अनुचित है। यह धारणा बौद्धिक जिज्ञासा से प्रेरित न होकर भावनात्मक आवश्यकताओं से प्रेरित है। इसे कमजोरी कहा जा सकता है। पर इस तथाकथित कमजोरी ही मे उनके दर्शन की

---

which was memorable in this experience was its human message, the sudden expansion of my consciousness in the super-personal world of man. - *The Religion of Man*, pp 93-94

30. वही, पृ० 94

31. वही, पृ० 94-95

32. ... The infinite became defined in humanity and came close to me so as to need my love and cooperation. *The Religion of Man*, p. 96

33. वही, पृ० 97

विशिष्टता है। कवि रवींद्र कहते हैं ईश्वर संबंधी यह विचार मेरे मन में दार्शनिक विवेचन की किसी प्रक्रिया द्वारा नहीं पनपा है। इसके विपरीत आरंभ से ही यह मेरे स्वभाव की धारा का अनुसरण करता रहा और फिर एक प्रत्यक्ष अंतर्दर्शन से अचानक मेरी चेतना में कौंध उठा।[34]

आगे फिर वे अनेक स्थलों पर अपनी अद्भुत अनुभूति की क्षमता को स्वीकारते हुए कहते हैं, "मैंने पहले ही स्वीकार किया है कि मेरा धर्म कविधर्म है। जो कुछ भी मैं अनुभूत करता हूं वह दृष्टि से न कि तर्कज्ञान से।[35] रवींद्र पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि उनके जीवन में ऐसे क्षण आए हैं जब उनकी आत्मा ने परमात्मा का स्पर्श किया है एवं आनंदातिरेक में उन्होंने उसकी अनुभूति की है।[36] इस अनुभूत अनंत को और भी स्पष्टता प्रदान करते हुए रवींद्र अपनी दार्शनिक कृति 'परसनैलिटी' में कहते है: "यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत के लिए अनंत मात्र दार्शनिक परिकल्पना का विषय नही है, यह उसके लिए उतना ही सत्य है, जितना सूर्य का प्रकाश। वह उसे अवश्य देखें, अनुभव करें और अपने जीवन में उसका उपयोग करें।"[37] क्योंकि उनके अनुसार सीमित अपूर्ण एक ऐसा 'दिया' है, जिसमें प्रकाश नहीं एक ऐसी वीणा है, जिसमें संगीत नहीं।[38] वह वस्तुतः असीम-अनंत के प्रकाश से ही प्रकाशित है और उसी के स्वर-संगीत से झंकृत होता है। अस्तु ससीम की सार्थकता के लिए असीम-अनंत का एहसास आवश्यक है।

वस्तुतः ससीम असीम के बिना निरर्थक है। रवींद्र ससीम को असीम से नितांत भिन्न स्वीकार ही नहीं करते। उनका कहना है कि अभिव्यक्ति के लिए असीम को ससीम होना, निर्वैयक्तिक होना आवश्यक है, किंतु वह अपनी सीमा से परिसीमित नहीं होता। उसका केंद्र सर्वत्र है किंतु परिधि कहीं नहीं है। सृष्टि उसके आत्मगोपन और आत्म-प्रकाशन का छंद है। रवींद्र वस्तुतः समन्वयवादी हैं। अतः उनके लिए सीमित-असीमित अथवा ईश्वर के सगुण व निर्गुण रूप में विरोध देखने का प्रश्न ही नहीं

---

34. "This thought of God has not grown in my mind through any process of Philosophical reasoning. On the contrary, it has followed the current of my temperament from early days until it suddenly flashed into my consciousness with a direct vision." -*The Religion of Man*, p. 17

35. वही, पृ० 107 और भी देखिए - पृ० 93

36. I am sure that there have come moments in my own experience when my soul has touched the infinite and has become intensely conscious of it through the illumination of joy. *The Religion of Man*, p. 107

37. But it has to be noted that the infinite is not a mere matter of philosophical speculation of India; it is as real to her as the sunlight. She must see, feel it, make use of it in her life. Personality, pp. 26-27

38. वही, पृ० 56

उठता। इसे उन्होंने ईशोपनिषद् के उद्धरण से भी सिद्ध करते हुए कहा है कि असीम एवं ससीम दोनों वैसे ही एक हैं जैसे गीत और उसका गाया जाना।[39] इस भाव का उदाहरण उनकी रचनाओं में बिखरा हुआ है। उनके अनुसार विश्व का प्रत्येक रूप उस परम सत्ता का प्रकाशन ही है। जो प्राणतरंगमाला हमारे शरीर की नाड़ी-नाड़ी में दौड़ रही है, वही विश्व दिग्विजय के लिए निकली हुई है, वही प्राण सुंदर छंद, ताल और लय में नाच रहा है। इस भाव को कवि ने अपनी कविता में इस प्रकार गूंथा है:

"इस शरीर की शिरा-शिरा में जो दिन रात प्रवाहित प्राण
वही प्राण इस अखिल विश्व के बीच सदा रहता गतिमान
वही प्राण अपरूप छंद में ताल लय सहित बहता है
वही प्राण चुपचाप भुवन में सदा नाचता रहता है।"[40]

टैगोर का पूर्ण विश्वास है कि इस असीम-अनंत सत्ता का पूर्ण प्रकाशन मनुष्य के मनुष्यत्व में-उसकी अतिशय संवेदनशीलता में, करुणा में और अपरिसीम प्रेम में- हो रहा है। क्योंकि प्रकृति की विभूतियों में मनुष्यों का स्थान श्रेष्ठतम है।[41] उसमें विवेक की प्रधानता है, जिसके द्वारा यह विश्व में व्याप्त सब शक्तियों में एकसूत्रता स्थापित करने की क्षमता रखता है। मानव केवल, भौतिक तत्वों का संघात नहीं है। सशरीर होने के कारण मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं के अधीन है, किंतु तात्विक रूप से आध्यात्मिक होने के कारण वह स्वतंत्र है। उसकी अधीनता उसे सीमित करती है किंतु उसकी स्वतंत्रता उसे अनंत बना देती है। उसके अंदर ईश्वर अधिष्ठित है। रवींद्र हमारे तत्वदर्शियों के अंतःकरण की गहराई में अनुभूत ज्ञान को स्वीकारते हुए कहते हैं: "जो शक्ति शिव के असंख्य रूपों में गतिशील होकर प्रकट हो रही है, वही शक्ति मनुष्य के अंतर में चेतना बन कर प्रकट हुई है।"[42] रवींद्र इसी विशिष्टता के नाते मनुष्य को स्वतंत्र मानते हैं। स्पष्टतः यह स्वतंत्रता उसको असीम अनंत की ही देन है। 'साधना' में वे कहते हैं : "मनुष्य की आत्मा स्वतंत्र है, वह न तो अपनी ही गुलाम बनती है, न संसार की किसी वस्तु की। किंतु वह प्रेमी है। उसका प्रेम आवश्यक तत्व है। उसकी पूर्णता प्रेम में ही है। पूर्ण मिलन भी उसी का दूसरा नाम है। मिलन या विलय की इस प्रतिक्रिया के अंत में ही उसकी आत्मा विश्व की आत्मा में विलीन हो जाती है, यही उसकी आत्मा का जीवन है।"[43] परंतु जब मनुष्य अपनी आत्मा को क्षुद्र संकीर्ण

39. *परसनैलिटी*, पृ० 55
40. *गीतांजलि*, पृ० 78 और भी देखिये वही, पृ० 213
41. *साधना*, पृ० 11
42. वही, पृ० 23
43. *साधना*, पृ० 17-18

संस्कारों में आवद्ध कर लेता है तो उसकी व्यापक आत्मा अपनी स्वतंत्रता खो बैठती है।[44]

मनुष्य की उत्कृष्टता उसकी इसी स्वतंत्रता में निहित है, पर इस स्वतंत्रता का उसे एहसास नहीं होता। जीवन की साधना की सार्थकता इसी एहसास को जगाने में है। कवि रवींद्र मनुष्य के भीतर वर्तमान इसी श्रेष्ठता को सक्रिय करने की बात करते हैं। मनुष्य में उनकी आस्था अप्रतिम है।

मानववादी दृष्टि

अस्तु रवींद्र दर्शन की सहज परिणति एक सशक्त मानववाद दृष्टि में हुई। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, उपनिषदों का यह कहना है कि सभी मनुष्यों में आत्मा समान रूप से विद्यमान है, इसलिए हमें समदर्शी होना चाहिए- हमारे व्यवहार में सभी के प्रति आदर और सम्मान की भावना होनी चाहिए और सभी के प्रति हृदय में प्रेम होना चाहिए। रवींद्र ने अक्षरशः इसी को जीवन का आदर्श मान लिया। उनके मानववाद का आधार ईश्वर है- सभी मनुष्यों में उसकी पावन उपस्थिति है। इसी संदर्भ में उन्होंने दो बहुत ही व्यंजक पद समुदायों का प्रयोग किया है- ईश्वर की मानवीयता और सनातन मानव की ईश्वरीयता।[45] रवींद्र ने इन पद समुदायों के माध्यम से इस बात पर बल देना चाहा है कि ईश्वर जीवन का कोई अतिक्रमी सत्य नहीं है, उससे यह संपूर्ण विश्व आप्लावित है और मनुष्य में तो उसकी अप्रतिम अभिव्यंजना है। ईश्वर मनुष्य का बाना पहन कर- मानवीय होकर के अपने उत्कृष्टतम रूप में अभिव्यक्त होता है। यह उसका ऐसा रूप है, जिसकी प्राप्ति देवताओं को भी नहीं होती। इसी के साथ जिस दूसरी बात की ओर उन्होंने संकेत किया है, वह यह कि मनुष्य, मनुष्य तो है ही पर अपने उत्कृष्टतम रूप में वह ईश्वरीय हो जाता है- ईश्वरीय भाव को व्यक्त करने वाला हो जाता है- स्वयं ईश्वर हो जाता है। उन्हीं के शब्दों में, "मानव विलग होने पर खोया हुआ-सा प्रतीत होता है, वह अपने वृहद् आत्मा को अपने विस्तृत मानवीय संबंध में पाता है। उसका बहुकोशिक शरीर तो पैदा होता है और मर जाता है, किंतु उसकी बहुवैयक्तिक मानवता अमर है। एकता के इस आदर्श में वह अपने जीवन में सनातन का और अपने प्रेम में अनंत का साक्षात्कार करता है। उसके लिए एकता एक व्यक्तिगत विचार मात्र नहीं रह जाती, वह एक स्फूर्तिदायक सत्य का रूप ग्रहण कर लेती है। उसका चाहे जो नाम दिया जाए, चाहे जिस रूप का वह प्रतीक बने, एकता की यह चेतना आत्मपरक है और उसके निष्ठावान् होने का प्रयत्न ही धर्म है।"[46]

44. वही, पृ० 17
45. *दि रिलीजन ऑफ मैन*, पृ० 17
46. वही, पृ० 15-16

'महान् पुरुष' या 'पुरुषविशेष' की कल्पना और उसके आधार पर जीवन का निर्माण भारतवर्ष के साधकों का महान् लक्ष्य रहा है। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात" इस वेद वाक्य से रवींद्रनाथ टैगोर अत्यधिक प्रभावित थे और परात्पर विलक्षण, पूर्ण सत्ता को केवल शुद्ध ज्ञान का विषय न मानकर वे उसे 'पुरुष' मानते थे, जिससे भावात्मक संबंध स्थापित किया जा सकता है। उनका दृढ़ विश्वास था कि इस पुरुष से महानतम कुछ भी नहीं है, वह सर्वोत्कृष्ट है, वह चरम साध्य है[47] और विविधतापूर्ण संसार उसकी अभिव्यक्ति है। सर्वव्याप्त ईश्वर अथवा परम पुरुष ईश्वर से उनका निकट का संबंध है। वह उनके घर का है, मंदिर का है, वही उनका मुख्य अतिथि है, जिसका वह सम्मान करते हैं। फलफूलों की ऋतुओं में, वर्षा में, बसंत के परमोत्कर्ष में उसी की पद-ध्वनि उन्हें सुनाई पड़ती है।[48]

विश्व अंतर्भूत इस परमसत्ता के लिए रवींद्र ने ब्रह्म, ईश्वर, परमपुरुष आदि शब्दों का प्रयोग किया है, किंतु उनकी कविताओं और दार्शनिक निबंधों में "जीवन-देवता" निःसंदेह ईश्वर का काव्यात्मक पर्याय है। उन्होंने अपने अंतरतम में विद्यमान सत्ता को 'जीवन देवता' मान लिया था। अंतरतम के साथ उनके संबंध का स्वरूप क्या है- इसका वर्णन रवींद्र ने स्वयं 'जीवन देवता' शीर्षक कविता में किया है। इसके भाव यूं हैं:

"मेरे जीवन देवता।
मैंने तो तुझे अपने हृदय को निचोड़ कर
दुःखों एवं खुशियों से लबालब भरा हुआ
जीवन का प्याला अर्पित कर दिया है
-क्या तू मुझ से प्रसन्न है?"[49]

अपने उपास्य को सभी कुछ समर्पित करना, उसकी सेवा करना - यही था उनका धर्म। युग-युगांतर से मनुष्य इसी धर्म की खोज में लगा हुआ है। अपनी प्रवृत्ति, अपनी रुचि तथा अपनी प्रतिभा के अनुरूप ही विभिन्न मनुष्यों ने भिन्न-भिन्न मार्ग

47. वही, पृ० 116

48. ... God with us is not a distant God; He belongs to our homes, as well as to our temples. We feel his nearness to us in all the human relationship of love and affection, and in our festivities He is the chief guest whom we honour. In seasons of flowers and fruits, in the coming of the rain, in the fulness of the autumn, we see the hem of His mantle and hear His footsteps *Personality*, p. 27-28

49. Thou who art the innermost spirit of my being art thou pleased. Lord of my life? For I gave to thee my cup filled with all the pain and delight that the crushed grapes of my heart and surrendered.

अपनाए। ज्ञान में आस्था रखने वाला ज्ञानमार्गी, कर्म में आस्था रखने वाला कर्मयोगी तथा हृदय अथवा भाव पक्ष की प्रबलता रखने वाला भक्त हो जाता है। व्यक्ति की प्रकृति की मूल रुचि ही उसके मार्ग का अंततः निर्धारण करती है।

कवि रवींद्र की साधना का क्षेत्र प्रकृति की गोद थी। वहीं उन्हें अपने जीवन देवता की जीवंत अनुभूति हुई। उसे तो हमें पाना ही है और इस पाने का अर्थ है, उससे भावात्मक संबंध स्थापित करना। अस्तु अनुभूति ही उसकी 'उपस्थिति' का एकमात्र साक्ष्य है, युक्ति उसे सिद्ध नहीं कर सकती। टैगोर के शब्दों में, "ज्ञान की वस्तुएं अपने ज्ञाताओं से अनंत व्यवधान रख कर चलती हैं। क्योंकि ज्ञान मिलन कराने में असमर्थ है। इसलिए मुक्ति के विभिन्न जगत् हमारे लिए वहीं पर अपेक्षित हैं जहां हमें सत्य की प्राप्ति प्रेमसंभूत मिलन द्वारा होती है, इंद्रियजन्य अनुभव से नहीं और युक्ति की सहायता से जानकर भी नहीं।"[50] ब्रैडले भी कहते हैं कि परम तत्व को जानने के लिए विचार को आत्महत्या करनी होगी।

किंतु मात्र पूजा या अर्चना भी उनके लिए पर्याप्त नहीं। रवींद्र का विश्वास था कि पूजा-अर्चना से भगवान् नहीं मिलते। वस्तुतः पूजा-अर्जना के विविध अनुष्ठानों के मध्य भक्त अपने आपको और अपने भगवान् को खो बैठता है। इसलिए वे मंदिर में-देवालयों में पूजा करने वालों को इस प्रकार संबोधित करते हुए कहते हैं-

"पूजन भजन साधनाराधन
रहने दे तू एक किनारे
मंदिर का पट बंद किए क्यों देवालय के द्वार
बैठा हुआ यहां है ओ रे।
करता है तू किसकी पूजा किसे पूजता लुका अंधेरे
मन ही मन में इस कोने रे?
नयन उघार निहार वहां पर
देवालय में देव नहीं रे।"[51]

50. *दि रिलीजन ऑफ मैन*, पृ० 172-73 टैगोर यहां भी उपनिषद् की विचारधारा का समर्थन करते हैं -
"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनंद ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।"
आंशिक ज्ञान देने वाला तर्क उसके ज्ञान में सहायक नहीं हो सकता क्योंकि तर्क हमें बाह्य ज्ञान देता है और प्रेम अंतर्ज्ञान देता है। अतः उसे केवल आनंद से, प्रेम से पाया जा सकता है। *साधना*, पृ० 126

51. *गीतांजलि*, पृ० 11

भक्त द्वारा किया गया आचार-अनुष्ठान जिस प्रकार देवता को आवृत कर लेता है, उसी प्रकार कर्मरत व्यक्ति के कर्म भी उसे पाने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं। क्योंकि कर्म के नियत चक्र में पड़कर मनुष्य अंध भाव से उसी स्थान पर चक्कर काटता रहता है। अस्तु विशुद्ध कर्मण्यता भी दूषित है।

जिस प्रकार से ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और अनुष्ठानमार्ग रवींद्र के मन को आकृष्ट नहीं कर सके, उसी प्रकार संन्यासमार्ग भी उनके मन को स्पर्श नहीं कर सका। उनके विचार में यदि वैराग्य को साधना का मार्ग बना ले तो साधना शुष्कता की साधना बन जाती है। फलस्वरूप उससे मनुष्य की मनोरम वृत्तियां अविकसित रह जाती हैं। यही नहीं वे उपेक्षित ही रह जाती हैं। उससे मुक्ति प्राप्त नहीं होती वरन् प्रवंचना ही मिलती है, इसलिए उन्होंने कहा है:

"जो वैराग्य साधना द्वारा मिलती मुक्ति न उसकी चाह
महानंदमय मुक्ति चाहता अगणित बंधन बीच अथाह।
इन्द्रिय-द्वार रुद्ध करके योगासन मुझे न भाता है
इस दृश्यगंध के गायन में आनंद तुम्हारा आता है
इस मुक्ति रूप में ही मेरा सब प्रेम फलित हो जायेगा।"[52]

उन्होंने अन्तरात्मा में विश्व के इस इन्द्रियग्राह्य विश्व का रूप अनुभव किया है। रूप-रस गंध और स्पर्श से युक्त विश्व में ही उस निर्वैयक्तिक परमसत्ता की अभिव्यक्ति हुई है, जो दोनों हाथों से जगत् में प्रेम वितरण के लिए प्रस्तुत है। अतः इंद्रियों की सहायता से उसका स्पर्श न करके यदि इंद्रियों का निरोध किया जाए तो इससे बढ़कर आत्म-प्रवंचना और कुछ नहीं हो सकती।

इस प्रकार विभिन्न मार्गों की एकांगिता को देखकर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उसी मार्ग की आदर्श के रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए जो मनुष्य की हृदयवृत्ति, बुद्धि वृत्ति और कर्मवृत्ति को समुचित रूप से परिचालित कर उन्हें उनका यथोचित अधिकार देकर उनमें निहित पूर्ण मनुष्यत्व को विकसित कर सके। अतएव रवींद्र की दृष्टि में तीनों वृत्तियों के समवेत रूप से ईश्वर की प्राप्ति का श्रेष्ठतम मार्ग है- मनुष्य के द्वारा उससे सार्थक संपर्क स्थापन। मनुष्य में ईश्वर की ऐसी अभिव्यक्ति है, जो हमारे सबसे निकट है, यह समझ लेने पर व्यक्ति उसके साथ बौद्धिक संबंध स्थापित कर सकता है, मानव बंधुओं से प्रेम कर उसके साथ भावात्मक संबंध स्थापित कर सकता है और सामान्य मानव जाति की सेवा कर शरीरधारी ईश्वर की सेवा भी कर सकता है। अतः वे कहते हैं "सब प्राणियों में ज्ञान द्वारा, प्रेम द्वारा और सेवा द्वारा समभाव रखना और इस प्रकार सर्वव्यापक में अपने रूप को अनुभव करना ही मानव-

52. *गीतांजलि*, पृ० 82

धर्म का सर्वश्रेष्ठ तत्व है।"[53] उन्हें अपनी तीनों वृत्तियों द्वारा एक साथ ईश्वर से संपर्क-स्थापन के अपने इस मार्ग में जीवन की उत्कृष्ट साधना भी मिली और मानव की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति भी।

इस प्रकार रवींद्र दर्शन की निष्पत्ति एक विशेष प्रकार की मानववादी दृष्टि में हुई, जिसका केंद्र मनुष्य इसलिए बन जाता है क्योंकि वह यह मानता है कि मनुष्य के सम्मुख ईश्वर सर्वाधिक प्रभावशाली रूप में व्यक्त होता है। टैगोर मानते हैं कि सामंजस्य और संतुलन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मानव में मूर्तिमान हुई है। यही कारण है कि उनका दर्शन प्रमुख रूप से मानव केंद्रित दर्शन है। वे स्वयं कहते हैं कि मेरा धर्म मानव-धर्म है, जिसमें अनंत मानवता में अत्यधिक संवेदनशीलता एवं करुणा अंततः प्रेम में परिभाषित होता है।[54] मानव के उन्नत रूप में वे आत्मा और प्रकृति का, असीम और ससीम का समन्वय पाते हैं। उन्होंने कहा है कि आदर्श धर्म तभी संभव है, जब कि संपूर्ण मानव जाति को हम सेवा और पूजा के पात्र के रूप में ग्रहण करें। उनके शब्दों में: "जैसे शिशु के लिए एकमात्र मातृ-संबंध में माता ही सर्वाधिक निकट है, सर्वाधिक प्रत्यक्ष है; संसार के साथ उसके अन्य विचित्र संबंध से शिशु अनभिज्ञ है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए ब्रह्म एकमात्र मनुष्यत्व के बीच ही सर्वाधिक सत्य और प्रत्यक्ष रूप में विराजमान है। इस संबंध के माध्यम से ही हम उसे जानते हैं, उससे प्रेम करते हैं, उसका काम करते हैं।[55]

इस प्रकार उनके विचार से मनुष्य की सेवा ही मनुष्य के लिए साधना का सर्वोत्कृष्ट रूप है, उपासना है। यही विचार उनके काव्यात्मक चिंतन के परिपक्वतम रूप का भी प्रतिनिधित्व करता है। 1930 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आमंत्रण पर उन्होंने जो 'हिबर्ट लेक्चर' दिये उनका भी यह विषयवस्तु बना। इसीलिए इन भाषणों के संकलन को उन्होंने 'दि रिलिजन ऑफ मैन' नाम दिया। इस पुस्तक में उन्होंने विशेष रूप से मानवता के रूप में सत्य अथवा ईश्वर को परिभाषित किया। मध्य-भारत के संतकवि रज्जव की वाणी उद्धृत करते हुए टैगोर कहते हैं : "तुम्हारी परिभाषा नरनारायण है, यही सत्य है तुममें असीम ससीम को ढूंढ़ता है, पूर्ण ज्ञान व प्रेम को। जब आत्मा और परमात्मा एक होते हैं, भक्ति से प्रेम भर जाता है।"[56] इसी प्रकार रविदास की वाणी उद्धृत करते हुए वे कहते हैं कि 'हे नरहरि तू मुझे देखता है और मैं तुम्हें। इस प्रकार हमारा प्रेम पारस्परिक है।'[57] पुनः चंडीदास का मंतव्य व्यक्त

53. *साधना*, पृ० 24
54. *दि रिलीजन ऑफ मैन*, पृ० 96
55. *रवींद्र रचनावली*, त्रयोदश खंड, धर्म, पृष्ठ 382 वंद्योपाध्याय, हिरण्मय, रवींद्र दर्शन, पृ० 85 से उद्धृत।
56. दि रिलीजन ऑफ मैन, पृ० 112
57. वही, पृ० 112

करते हुए वे कहते हैं कि मनुष्य सबसे बड़ा सत्य है, उसके ऊपर कोई सत्य नहीं।[58] मानववाद के प्रबल समर्थक स्वामी विवेकानंद ने भी मानव की अद्‌भुत उत्कृष्टता को स्वीकार करते हुए कहा है कि मनुष्य ही सबसे बड़ा ईश्वर है जिसकी पूजा की जानी चाहिए। निःसंदेह सभी प्राणी उसके देवालय हैं, जिनमें उसका वास है। पर मनुष्य तो उन सभी में श्रेष्ठ-देवालयों में ताजमहल ही है यदि वहां उस रूप में उसकी आराधना नहीं हो सकती तो अन्यत्र कहीं भी नहीं हो सकती है।[59]

अपने विश्वास के इस दौर में रवींद्र के मन ने वैयक्तिक ईश्वर के संपर्क में आनंद लेना छोड़ दिया और उन्हें जन-साधारण से संपर्क स्थापित करना भला लगने लगा। उनकी दृष्टि में निरीह सामान्य लोग अधम जनसमूह नहीं वरन् ईश्वर का अवतार हैं। इसलिए ईश्वर मिलन का प्रशस्त्र क्षेत्र केवल मंदिर में नहीं वरन् इसी स्थूल जगत में - सब मनुष्यों के बीच में है। इसी प्रेरणा से प्रेरित टैगोर की एक कविता के शब्द इस प्रकार हैं:

"जहां पर विश्व के संग योग
देता तू विहरता हो।
वहीं मेरा मिलन भी नाथ!
तेरे संग में होवे
न वन में या विजन में हो
मिलन होवे न निज मन में
जहां आत्मीय बन सब हों
वहीं तुमसे मिलन होवे।"[60]

इस प्रकार एकता की प्रत्यक्ष अनुभूति से अनुप्राणित रवींद्र का मानववाद इतना उदात्त है कि वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव को प्रतिबिंबित करता प्रतीत होता है। यही प्रेरणा उन्हें धर्मनिष्ठ लोगों को यह बताने के लिए भी प्रवृत्त करती है कि ईश्वर को मंदिरों में खोजने और वहां फूल-फल चढ़ाने और धूप जलाने की कोई उपयोगिता नहीं है। उसे तो मानव में ही - उसकी सेवा में ही खोजना चाहिए। वे कहते हैं:

"ध्यान छोड़ तज फूल चंगेरी
बसन फटे मैले हैं तेरे।

58. "... Listen 0 brother man (declares Chandidas), the truth of man is the highest truth, there is no other truth above it." *The Religion of Man*, p. 113

59. "The only God to worship is the human soul, in the human body. Of course all animals are temples too, but man is the highest, the Taj Mahal of temples. If I cannot worship in that, no other temple will be of any advantage." - Swami Vivekananda, *Practical Vedanta*, Advait Ashrama, Calcutta, 1958, p. 52

60. *गीतांजलि*, पृ० 189

क्या परवाह कर्म के द्वारा
बहा पसीना उनको पा रें।"[61]

धर्मनिष्ठ व्यक्ति को अथक परिश्रम और पसीने ही में ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहिए। प्रेम और सेवा का पात्र आम मानव होना चाहिए क्योंकि मनुष्य ही हमारे लिए ईश्वर की निकटतम और संपूर्ण अभिव्यक्ति है। ऐसा लगता है कि यही विचारधारा इस विश्वास में व्यक्त हुई कि ईश्वर दीनहीन वर्गों में विशेष रूप से उपस्थित है। वे कहते हैं कि जहां सबसे अधम और दीन से भी दीन रहते हैं, उसी स्थान पर ईश्वर के चरण विराजमान हैं। वह सबके पीछे सबके नीचे है। जो सब कुछ खो कर बैठे हैं, उनके भीतर ईश्वर का वास है। इन्हीं भावों को उनकी कविता ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

"सबसे अधम जहां रहते हैं और दीन से दीन
सबके पीछे, सबके नीचे, परम रंक के बीच
वहीं चरण तेरे रहते हैं।"[62]

टैगोर का दृढ़ विश्वास है कि पत्थर तोड़ने वाला मजदूर, खेती करने वाला किसान और सामान्यतः वे लोग जो शब्दशः अपने पसीने से जीते हैं, तथा समाज के सबसे निचले स्तर से संबंध रखते हैं' वे ही ईश्वर का अधिक सार्थक ढंग से प्रतिनिधित्व करते हैं। रवींद्र के इन भावों में हमें ईसा के इस विचार की प्रतिध्वनि प्रतीत होती है कि 'गरीब लोग भाग्यवान् हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।' स्पष्टतः यह विचार इस समझ से प्रेरित तो है ही कि दीन-हीन लोग ही हमारे प्रेम और ध्यान के पात्र हैं, साथ ही यह भी कि दीन होकर- सब कुछ का परित्याग करके ही हम उस सेवा के अधिकारी बनते हैं। मानव सेवा द्वारा ईश्वर की सेवा का यही भाव युग-दर्शन में 'नरनारायण' तथा 'दरिद्रनारायण' की परिकल्पना में साकार हुआ है। 'दरिद्रनारायण' का अर्थ है दरिद्रों में नारायण अर्थात् ईश्वर जो दीन-हीन दरिद्रों में बसता है। गांधी जी कहा करते थे कि 'ईश्वर विशेष रूप से दरिद्रों का नारायण है, दरिद्र उसके प्रिय व्यक्ति हैं।' इन्हीं भावों से ओत-प्रोत टैगोर कहते हैं कि ईश्वर को सौभाग्यशाली संपन्न वर्गों की अपेक्षा निर्धन-दीन वर्गों ही में खोजना चाहिए। संभवतः इसलिए कि पददलितों की सेवा करना सबसे कठिन कार्य है व्यक्ति जब तक पूर्णतः अपने अहंकार का परित्याग नही करता भगवान का साक्षात्कार करना-भागवती चेतना में पूर्णतः रूपांतरित हो जाना उसके लिए असंभव है और अहंकार के विलय का यह सबसे सशक्त साधन है। जो दलित हैं- कण के समान भी जिनका महत्व नहीं है, उनके भी नीचे अपने को रखकर ही हम उनकी सेवा करते हैं- कर सकते हैं और जिसने इस धर्म का निर्वाह कर

61. वही, पृ० 12

62. *गीतांजलि*, पृ० 10

लिया, जिसने अपने अहम् को पूर्णतः नष्ट कर दिया, उसकी चेतना स्वतः सार्वभौम हो जाती है, वह प्रेम और करुणा की प्रतिमूर्ति हो जाता है। इसी को ईश्वर साक्षात्कार कह सकते हैं। इसी को ईश्वरीय भाव में स्थायी रूप से स्थित होना भी कहते हैं। यही सभी साधनाओं का लक्ष्य भी है।

दीनदलित तो पूर्णतः निरभिमानी होते हैं और इस भाव में स्वयं भगवान् का वास है। अतः यदि उसे कहीं खोजना है तो उसका सबसे पारदर्शी रूप हमें इन्हीं में- उनके इसी भाव में मिलता है। वे कहते हैं:

"वे हैं वहां, जहां पर माटी गोड़
कृषक खेती करते हैं,
जहां बारहों मास मजूर
काट रहे पत्थर, खटते हैं
धूप कड़ी हो या वर्षा हो
साथ सदा उनके रहते हैं।
धूल और माटी में उनके
हाथ सने दोनों रहते हैं।"[63]

इस दृष्टि से विश्वजनीन कर्म ही श्रेष्ठ धर्माचरण है, जो कि रवींद्र दर्शन में विश्वकर्मा के प्रत्यय को साकार करता है। रवींद्र कल्याणकारी कार्यों के चुनाव के निमित्त एक सीधा व व्यावहारिक मानदंड निर्धारित करते हैं कि वह कार्य वरणीय है, जिसमें सामान्य जन का हित साधन निहित हो। कार्य छोटा हो और उसका परिणाम थोड़ा ही निकलता हो, तो कोई बात नहीं, किंतु प्रमुख बात यह है कि उससे वैयक्तिक हित-साधन की अपेक्षा समाज का भला होना चाहिए। मानदंड यह है कि उस कार्य द्वारा विश्व-हित के लक्ष्य को प्रोत्साहन मिले। इसलिए भगवान के सच्चे सेवक को विश्वकर्मा बन जाना चाहिए। उनका कथन है: "जिस सत्ता की लीला संपूर्ण विश्व में व्याप्त है और जिस सत्ता ने मनुष्यता के केंद्र में भी स्थान बना लिया है, उससे होने वाला मिलन कभी निष्क्रिय नहीं हो सकता। उससे संयुक्त होने के लिए हमें अपने कर्म को स्वार्थपरता से मुक्त करना पड़ेगा और विश्वकर्मा बनना पड़ेगा, हमें सबके लिए काम करना पड़ेगा। मैं जब कहता हूं 'सबके लिए' तो मेरा अभिप्राय असंख्य लोगों के लिए नहीं है जो कर्म अच्छा है, वह फैलाव में चाहे जितना छोटा हो, वही है विश्वजनीन कर्म और इस प्रकार का कार्य करने वाला व्यक्ति विश्वकर्मा है जो सबके लिए कार्य करता है।"[64]

63. *गीतांजलि*, पृ० 11
64. दि रिलीजन ऑफ मैन, पृ० 69

रवींद्र विश्वकर्मा के प्रत्यय को और स्पष्टता प्रदान करने के लिए उपनिषद् में निहित इसी विचार को उद्धृत करते हैं : "वह देवता जो विश्व के विविध कर्मों से स्वयं को प्रकट करता है, मनुष्य के हृदय में निवास करता है जो अनुभूति और मन की साधना द्वारा अंतःवासी को जान लेते हैं वे अमर पद को पाते हैं।"[65] वे ही विश्वकर्मा हैं। इस महात्मा से एकाकार होने के लिए मनुष्य को आत्मा की उस महानता को सिद्ध करना चाहिए जो समस्त मनुष्यों की आत्मा से अपने को एक करती है न कि वह जो कि उसकी अपनी सीमित आत्मा है। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'ब्रह्मविहार' की अवधारणा भी इसी विचार को प्रतिपादित करती है। टैगोर बुद्ध के वचनों को उद्धृत करते हैं एक दूसरे को धोखा न दो, किसी से कहीं भी घृणा न करो, क्रोधवश किसी को तन, मन, वचन से दुःख देने की इच्छा न करो। जिस प्रकार मां अपने इकलौते बेटे का अपने प्राण से पोषण करती है उसी प्रकार समस्त प्राणियों के लिए तुम्हारे मन में अमिट प्रेम हो।

अपने ऊपर, नीचे और चारों दिशाओं में समग्र विश्व के लिए बाधा, हिंसा और द्वेष से मुक्त होकर अपने हृदय में सहानुभूति और असीम प्रीति रखो।

खड़े, टहलते हुए, बैठे हुए अथवा लेटे हुए - जब तक निद्राविष्ट न हो जाए, इस प्रकार की मानसिकता से आपन्न होने का नाम है- 'ब्रह्म-विहार'।[66] बुद्ध के ब्रह्म विहार का आदर्श टैगोर को इतना आकर्षक प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी विभिन्न कृतियों में इसकी बारंबार चर्चा की है। 'साधना' में वे कहते हैं : "जीवन की हर चेष्टा में... इसी प्रेम भावना से ओतप्रोत रहना ही ब्रह्मविहार है, या... यही गतिविधि है, जिससे ब्रह्म का आत्मा में विचार किया जाता है।"[67]

ब्रह्म की आत्मा से उनका तात्पर्य है कि इस समस्त विश्व में जो चेतना व्याप्त है, वही चेतना हमारी अंतरात्मा में भी है और ब्रह्मभाव का तात्पर्य अंतरात्मा में स्थित उस चेतना का इतना विस्तार कर देना है कि वह विश्व चेतना के स्रोत ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाए। टैगोर का विश्वास है कि हम साहित्य, कला, विज्ञान और दर्शन के माध्यम से वस्तुतः अपनी चेतना के ऐसे ही विस्तार से लगे हुए हैं। परन्तु चेतना की ऐसी व्यापकता और विस्तार को प्राप्त करने के लिए आत्म-समर्पण अथवा आत्म-त्याग प्रमुख शर्त है। उनका यह भी विश्वास है कि आत्मत्याग का यह सिद्धांत जो कि बुद्ध गीता और उपनिषदों में प्रतिष्ठित है, सामाजिक जीवन व्यतीत करने का भी एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि स्वार्थी और अहंकारी

65. एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो ये एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। *साधना*, पृ० 35
66. *दि रिलीजन ऑफ मैन*, पृ० 69-70
67. *साधना*, पृ० 20

व्यक्ति कभी भी वस्तुओं और उसके परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन के स्वरूप का सही मूल्यांकन नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि आत्मसीमित होने के नाते वह समस्त वस्तुओं के अर्थ को अपने ही संकीर्ण स्वार्थ के अर्थ में देखता है और इसलिए वह उन पर एकाधिकार करने की चेष्टा करता है। टैगोर के अनुसार वस्तुओं के प्रति दृष्टिकोण वस्तुओं का हीनतम मूल्यांकन करता है। इससे वह न केवल दूसरों के प्रति अन्याय करता है अपितु अपने स्वरूप के प्रति भी अन्याय करता है। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप विश्वचेतना से एकाकार होकर ही व्यक्त होता है। किंतु जब वह अपने संकीर्ण स्वार्थ में अपने को सीमित कर लेता है, तो वह अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है। टैगोर का कहना है कि उपनिषदों का यही महान् संदेश है। मानव जीवन की श्रेष्ठता का अर्थ समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखना तथा सर्वव्यापक सत्य के साथ अपने को एक समझना है। वस्तुतः यही आत्मा का परमात्मा से सच्चा मिलन है। टैगोर कहते हैं- "जिसकी आत्मा का... प्रभु से मिलन हो चुका है, वह मानव-उपवन का पुष्प बन जाता है क्योंकि उस मिलन में ही आवि : का प्रस्फुटन मनुष्य की आत्मा में होता है और वही मनुष्य अंतःकरण से विश्वात्मा की और मनुष्य-प्रेम की विश्व के अमर प्रेम से एकात्मता होती है।"[68]

मनुष्य की श्रेष्ठता के संबंध में वह बारंबार कहते हैं कि ईश्वर के प्रकट रूपों में मनुष्य अतुलनीय है, मानव आत्मा अनुपम है, क्योंकि उसमें ईश्वर अपने आपको विशेष प्रकार से प्रकट करता है। उनके लिए मानवता असीम का सर्वोच्च उद्‌घाटन है। सत्ता की दृष्टि से वे मनुष्य को प्रकृति से पृथक् किए बिना ही, उसे स्थान देते हैं। किंतु मनुष्य की अद्‌वितीयता पर उनका यह आग्रह प्रमुख रूप से मानवात्मा की स्वतंत्रता पर आधारित है, जो मनुष्य को सृजनशील बनाती है। प्रकृति नियत है, अपने भौतिक नियमों के अधीन है, किन्तु मनुष्य बंधनों को पार करने में समर्थ है क्योंकि वह स्वतंत्रात्मा है। मनुष्य के मनुष्यत्व का निखार बिना स्वातंत्र्य के संभव ही नहीं है। मनुष्य की यह स्वतंत्रता ही उसे अपनी तात्कालिक आवश्यकता से ऊपर उठाकर सृजनशील प्राणी बनाती है। मनुष्य अपनी सृजनात्मकता में ही असीम का स्पर्श पाता है। 'परसनैलिटी' में टैगोर कहते हैं कि मनुष्य की सत्यता उसके अपने अनंतत्व की, देवत्व की अनुभूति में है और यह देवत्व ही उसमें सृजनकर्ता है।[69]

किन्तु रवींद्र की मानववादी चेतना इतने से ही संतुष्ट नहीं है। वह आत्मा और परमात्मा के बीच पारस्परिक व्यापार की मांग करती है। जहां आत्मा एक ओर अपने में परमात्मा की अभिव्यक्ति पाता है, वहीं दूसरी ओर परमात्मा भी अपनी सार्थकता का

68. *साधना*, पृ० 40-41

69. Man is true, where he feels his infinity, where he is divine, and divine is the creator in him. *Personality*, p. 31

आधार मनुष्य में पाता है। 'क्रिएटिव यूनिटी' में टैगोर का कथन है कि देवत्व की पूर्णता के लिए मनुष्यता आवश्यक है। अनंत आत्म प्रकाश के लिए सांत की अनेकता में प्रकट होता है एवं सांत अपने साक्षात्कार के लिए अनंत की एकता तक पहुंचता है। सत्य का चक्र तभी पूरा हो पाता है।[70] अस्तु, व्यक्तिविशेष केवल उस परम सत्ता का अंश ही नहीं, वह उसका विशिष्ट अंग भी है। उसकी अपनी विशेषता है, व्यक्तित्व है। उससे प्रेम करने में परमसत्ता का भी कुछ प्रयोजन है। अन्य शब्दों में वह भी हमारे प्रेम का भूखा है। उनकी निम्नांकित कविता में मानव-गौरव की अभिव्यक्ति दर्शनीय है:

"आनंद तुम्हारा मुझ पर ही हो निर्भर
नीचे आए हो मेरे पास उतर कर
होता न अगर मैं तो त्रिभुवन के ईश्वर
मिथ्या हो जाता प्रेम तुम्हारा प्रभुवर।"[71]

इस परिकल्पना के अनुसार प्रति व्यक्ति के व्यक्तित्व में चेतना की अतिक्रमिता का बोध होता है। वह एक अनिवार्य ध्रुव ही है और इसलिए उसका महत्व कम नहीं। परम सत्ता के स्वार्थ के लिए ही उसके व्यक्तित्व का बोध होता है। वह परमसत्ता उसके प्रेम का भिखारी है। परमसत्ता के व्यक्तित्व का विकास उसके संस्पर्श पर ही निर्भर करता है। इसलिए परमात्मा ने स्वयं हमारी आत्मा का वरण किया है।[72] यदि मनुष्य न होता तो स्वर्ग के स्वामी का प्रेम कहां जाता? वह मानव से ही वह प्रकाश लेता है जो उन्हें अपने प्रकाशन के निमित्त चाहिए। इस अर्थ में रवींद्र के लिए मनुष्य की असीम-ससीम सत्ता जो असीम को प्राप्त करने के लिए ऊर्ध्वमुखी है, और जिसके सांत में अनंत की अभिव्यक्ति है, निरपेक्ष परमात्मा से भी अधिक सार्थक है, क्योंकि ईश्वर की सिद्‌धि भी अनंत मानवता में ही है। ईश्वर के ईश्वरत्व को - उसके ऐश्वर्य रहस्य को, स्वीकार करने वाला मनुष्य ही है, कोई अन्य जीव नहीं। अतएव ईश्वर की पहचान भी मनुष्य के ही द्वारा होती है - इस अर्थ में मानव की महत्ता द्‌विगुणित हो जाती है।

मनुष्य की यात्रा निश्चय ही असीम की ओर उन्मुख है, किन्तु असीम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति भी अंततः सांत मानव में ही है। ससीम मानव के बिना असीम अनभिव्यक्त व अज्ञात ही रह जाता है। इसी संदर्भ में टैगोर वैष्णव भक्तों के मंतव्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वैष्णओं ने दृढ़ता से स्वीकार किया है कि परमात्मा को प्रेम की पूर्णता के लिए आत्मा पर निर्भर रहना पड़ता है। प्रेम में स्वतंत्रता आवश्यक है, अतः ईश्वर को आत्मा से एकाकार होने के लिए, जब तक वह यानी आत्मा नहीं चाहता, प्रतीक्षा ही नहीं करनी पड़ती वरन् बाधाओं के आ जाने पर कष्ट भी उठाना

70. *समकालीन भारतीय दर्शन*, पृ० 129 से उद्‌धृत।

71. *गीतांजलि*, पृ० 63

72. *साधना*, पृ० 27

पड़ता है।[73] भक्त बिना भगवान् के नहीं रह सकता किंतु यदि भक्त को भगवान की आवश्यकता है तो उससे कहीं अधिक भगवान् को अपने भक्त की आवश्यकता है।

टैगोर इस अर्थ में जीवात्मा और परमात्मा का समन्वय करते हुए मानव की उत्कृष्टता प्रतिष्ठित करने में कोई कसर नहीं छोड़ते। परमात्मा तक अपने लिए मनुष्य के महत्व को स्वीकार किए बिना नहीं रह पाता। मानववाद का यह एक उत्कृष्ट स्वरूप है। इसी में रवींद्र अपने धर्म का संधान पाते हैं। वे स्वयं कहते हैं: "मैंने महसूस किया कि अंत में मैंने अपना धर्म, मानवीय धर्म मे प्राप्त किया, जिसमें अनंत मानवता से पारिभाषित होता है और वह मेरे प्रेम तथा सहयोग के लिए मेरे पास आता है।"[74]

टैगोर को इस उदात्त मानववाद पर मानवीकरण के आरोप का तनिक भी भय नहीं क्योंकि उनका ईश्वर भी तो मानव ही है। वे कहते हैं कि यदि यह मानवीकरण से लांछित है तो मनुष्य को भी मनुष्य होने में दोष होना चाहिए और प्रेमी को व्यक्ति के रूप में अपनी प्रेमिका से प्यार करने में भी दोष होना चाहिए।[75] टैगोर का दृढ़ विश्वास है कि हम जो कुछ जानते हैं और महसूस करते हैं, उन सबमें हम मानव से परे नहीं जा सकते।

टैगोर के अनुसार मानव आचरण या तो नैतिक हो सकता है अथवा अनैतिक किन्तु नैतिक दृष्टि से कभी रिक्त नहीं हो सकता। पशुओं का जीवन नैतिकता शून्य है, क्योंकि वह केवल तात्कालिक वर्तमान को ही पहचानता हैं। किंतु मनुष्य तात्कालिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर भविष्य के प्रति सजग है। वह 'जो कुछ है' और 'जो कुछ उसे होना चाहिए' उसमें अंतर करता है। वह अपनी सांत सीमित आवश्यकताओं को लांघकर अपने आचरण को असीम संभाव्य क्षमताओं की ओर अग्रसर कर सकता है और इसी कारण वह नैतिक जगत में प्रविष्ट हो पाता है। अतः उनकी जीवन दृष्टि का प्रारंभिक बिंदु ही मानव स्थिति है। मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्थाओं के अधीन न रहकर अपने लिए अनंत संभावनाओं का सृजन करता है। इस प्रकार वह तथ्यात्मक जगत् से ऊपर उठकर मूल्यों के सृजन की ओर अपने को प्रेरित पाता है।

अपने ग्रंथ 'परसनैलिटी' में टैगोर ने मनुष्य के दूसरे जन्म की चर्चा की है। वे कहते हैं कि जब मनुष्य में 'है' और 'चाहिए' की चेतना का आविर्भाव होता है, तो वहीं से मनुष्य का दूसरा जन्म प्रारंभ होता है। यही चेतना मनुष्य को भौतिक वस्तुओं से पृथक् करती है। यह चेतना नैतिक चेतना है। इसी के साथ हम प्राकृतिक जगत् को

73. "... Vaishnavas have realized this truth and boldly asserted it by saying that God has to rely on human souls for the fulfilment of his love. In love there must be freedom therefore God has not to wait till our souls, out of their own, but also to suffer when there are obstacles and rebellions." *Personality*, p. 102

74. *दि रिलीजन ऑफ मैन*, पृ० 96

75. वही, पृ० 114

71

छोड़कर नैतिकता के जगत् अथवा मानवता के जगत् में प्रवेश करते हैं। जब तक मनुष्य प्राकृतिक जगत् में होता है, वह बाह्य प्रकृति की शक्तियों से संघर्ष करता होता है। लेकिन जब वह नैतिक जगत् में प्रवेश करता है, तो उसका संघर्ष और कठिन हो जाता है क्योंकि उसे तब अपनी ही प्रवृत्तियों, इच्छाओं, वासनाओं और संकीर्णताओं से संघर्ष करना होता है। उन पर विजय प्राप्त करके मनुष्य अपनी ही सत्ता के सुंदर और उदात्त रूप को प्राप्त करना चाहता है। उसी में उसकी पूर्णता है। टैगोर के अनुसार मनुष्य का यह प्रयास परम तत्व के साथ एकाकार हो जाने का प्रयास है।

टैगोर मानव-जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान समन्वय और सृजनशीलता के आदर्श में प्राप्त करते हैं जिसके अनुसार मनुष्य न तो नैतिक रूप से अपने तात्कालिक जगत् से संन्यास ले सकता है और न ही उसमें लिप्त रह सकता है। उनका नीतिविचार जीवन और जगत् के मूल्यों को अस्वीकार न कर उनके प्रति भावात्मक दृष्टि अपनाता है। उनमें वह असीम-अनंत का स्पर्श पाता है और इन्हें वह मानव की आत्मिक सत्ता से समन्वित करता है। इसीलिए रवींद्र जाते-जाते भी जीवन की स्वीकृति और सार्थकता का संदेश प्रसारित करते हैं:

"जाने के दिन यहां से
यह बात कह के जाऊं।
देखा यहां पे जो कुछ
जो कुछ यहां पे पाया,
तुलना नहीं किसी से
यह भाव लेके जाऊं।
इस ज्योति-सिंधु में जो
शतदल कमल विराजित,
'मधु पा के धन्य उसका'
यह कह यहां से जाऊं।"[76]

टैगोर का स्पष्ट मत है कि हम अंग हैं, समाज अंगी और सामाजिक संतुलन को बनाए रखने में ही सबका हित निहित है। अतएव विवेकशील मनुष्य अपनी उन इच्छाओं, जिनसे उसका अहं केंद्रित व्यक्तित्व संतुष्ट होता है तथा सामाजिक कल्याण की इच्छाओं में सामंजस्य स्थापित कर अपने वास्तविक व्यक्तित्व का साक्षात्कार कर सकता है- परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। उनका कहना है कि 'हमारी भौतिक प्रवृत्तियों का लक्ष्य स्वास्थ्य तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का लक्ष्य कल्याण और आत्मा

76. *गीतांजलि*, पृ० 106

का लक्ष्य प्रेम है। यह अंतिम ही वह लक्ष्य है, जिसे बुद्ध ने निर्वाण कहा है- स्वार्थ से निर्वाण। यह प्रेम की साधना है। प्रेम प्रकाश की ओर अग्रसर करता है। प्रेम का प्रकाश ही हमारे अंतर में असीम की आनंदमय ज्योति प्रज्ज्वलित करता है।"[77]

टैगोर की जीवन में भरपूर आस्था है- उन्होंने जीवन में अनंत के स्वरों को सुना और उसके अनुरूप अपने जीवन को ढालने की चेष्टा की। साथ ही जिस सम्मान से उनकी चेतना ओतप्रोत थी, उसी को उन्होंने सर्वत्र प्रसारित करने की चेष्टा की। सभी मनुष्यों में- दलितों में भी भगवान् का वास है, इसलिए दलितों के प्रति अतिशय संवेदनशीलता- उनकी सेवा उनके लिए जीवन की साधना बन गई। मानववाद की यह निष्पत्ति टैगोर की दृष्टि की विशेषता तो है ही, वह एक महत्वपूर्ण अर्थ में संपूर्ण भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती है।

77. *साधना*, पृ० 70-71

अध्याय - 4

महात्मा गांधी (1869-1948)

दार्शनिक दृष्टि

'बापू' एक व्यक्ति नहीं एक संस्था थे- ये उद्‌गार 'बापू' नामक अपनी कृति के आवरण पृष्ठ पर श्री घनश्याम दास बिड़ला ने व्यक्त किए हैं और इनमें महात्मा गांधी के व्यक्तित्व की गरिमा सहज ही व्यक्त हो जाती है। उनके व्यक्तित्व में जो पारदर्शी मानवीय दृष्टि थी, जो स्वाभिमान और करुणा का भाव था, जीवन के उच्च लक्ष्यों के प्रति जो अपूर्व निष्ठा और समर्पण था, उससे अनीति की गगनचुंबी दीवारें ढहकर भूमिसात् हो गईं- इसका साक्ष्य स्वयं भारतवर्ष का इतिहास प्रस्तुत करता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से उन्होंने लोहा लिया और भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ।

गांधी जी सादगी, सरलता व नम्रता की प्रतिमूर्ति थे। उनके व्यक्तित्व में अद्‌भुत आकर्षण था। उनमें इसी सरलता और सत्य के प्रति निष्ठा के कारण जनता का हृदय छू लेने की अनूठी प्रतिभा थी। यही कारण है कि उनकी अंतरात्मा की आवाज विश्व के कोने-कोने में गूंज उठी। मानवीय इतिहास में बुद्ध ईसा और विवेकानंद के पश्चात् गांधी के सदृश करुणा का अन्य कोई प्रतीक देखने को नहीं मिलता। ब्रिटिश प्रतिनिधि फिलिप नोएल बेकर ने गांधी को सबसे गरीब, सबसे अलग और पथभ्रष्ट लोगों का हित चिंतक बतलाया।[1]

महात्मा गांधी आध्यात्मिक व्यक्ति थे। उनके रगरग में धर्म के प्रति आस्था थी। फिर भी उनकी धार्मिक विचारधारा का किसी मत या रीतिरिवाज विशेष से संबंध नहीं था। वे दार्शनिक से अधिक भक्त, साधक व संत थे। यही कारण है कि दर्शन की शास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने की अपेक्षा उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं का वरण किया और उनका नैतिक समाधान प्रस्तुत करके मानववादी दार्शनिकों में एक

1. लुई फिशर, *गांधी की कहानी*, अनु० चंद्रगुप्त वार्ष्णेय, रास्ता साहित्य प्रकाशन, 1959, पृ० 19

विशिष्ट स्थान ग्रहण किया। अन्य शब्दों में उन्होंने व्यक्तिगत नैतिकता और सार्वजनिक व्यवहार के मध्य एकता स्थापित करने का अथक प्रयास किया। उन्होंने अपनी आत्मकथा के प्रारंभ में ही इस बात को घोषित कर दिया कि यदि सिद्धांतों अर्थात् तत्वों का शास्त्रीय विवेचन ही मेरा उद्देश्य होता तो मुझे अपनी 'आत्मकथा' नहीं लिखनी चाहिए, किंतु मेरा उद्देश्य जीवन के आंतरिक मूल्यों के दैन, दिन जीवन के व्यावहारिक प्रयोग के विवेचन से है, और इसलिए मैंने इस प्रयत्न का पहला नाम रखा है 'सत्य के प्रयोग' उनका स्पष्ट कथन है कि उनका जीवन तो सत्य का अनंत प्रयोग मात्र है। 70 वर्ष की अवस्था में ही वह प्रयोग करते रहे और अपने प्रयोगों द्वारा उन्होंने यह दर्शा दिया कि आध्यात्मिक दृष्टि राजनीति को भी सार्थक बना सकती है। अस्तु, उनकी साधना उनकी राजनीति को भी अनुप्राणित करती है, "जो बात मुझे करनी है, आज 30 साल से जिसके लिए मैं उद्योग कर रहा हूं वह तो है- आत्मदर्शन ईश्वर का साक्षात्कार, मोक्ष। मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टि से होती है। मैं जो कुछ लिखता हूं वह भी सब इसी उद्देश्य से और राजनीतिक क्षेत्र में जो मैं कूदा सो भी इसी बात को सामने रखकर।"[3] उनके दृष्टिकोण की सर्वयुगीन महत्ता को व्यक्त करते हुए डा० मार्टिन लूथर किंग ने, 1959 में दिल्ली के प्रेस सम्मेलन में एक प्रश्न के उत्तर में कहा था- यदि मानवता को विकसित होना है तो गांधी आवश्यक है। यदि मानव की एवं उसके उत्कृष्ट मूल्यों की सार्थकता है तो गांधी की सार्थकता है। यदि राम, कृष्ण, बुद्ध, सुकरात एवं क्राइस्ट की सार्थकता है तो गांधी की भी सार्थकता है।

उनकी मानववादी दृष्टि की विशिष्टता को प्रस्तुत करने के पूर्व उनके जीवन दर्शन को समझना आवश्यक है।

ईश्वर, अहिंसा तथा जगत का स्वरूप

पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट हो गया है कि गांधी किसी नितांत नवीन विचारधारा के प्रतिपादक नहीं थे। यही कारण है कि हम उनके विचारों को शास्त्रीय अर्थ में किसी नवीन दर्शनतंत्र की संज्ञा से विभूषित नहीं कर पाते।[4] शाश्वत सत्य का पाठ गांधी ने कुछ तो अपने परिवेश से और कुछ विश्व के महान् संतों व मनीषियों से ग्रहण किया

2. गांधी, मोहनदास करमचंद, *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा*, अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, नई दिल्ली, रास्ता साहित्य मंडल, 1948 पृ० 10
3. वहीं, पृ० 8
4. 'गांधीवाद' जैसी कोई वस्तु नहीं है, और मैं अपने पीछे कोई संप्रदाय छोड़ कर नहीं जाना चाहता। मेरा यह दावा नहीं है कि मैंने कोई नया सिद्धांत या धर्म निकाला है। मैंने अपने ढंग से केवल सनातन सत्यों को दैनिक जीवन और उसकी समस्याओं पर लागू करने की कोशिश की है। - *हरिजन*, 28 मार्च, 1936

और अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा उन सत्यों का पुष्टीकरण किया। इस प्रकार यद्यपि उनके विचारों के मूल में प्रायः प्राचीन शिक्षाएं ही निहित थीं तथापि एक नवीन जीवनदृष्टि का आविर्भाव हो गया है।[5]

गांधी का आराध्य ईश्वर है। वह सर्वव्यापी है- कण-कण में विद्यमान है। वह जीवन का शाश्वत तत्व है। गांधी उसे शुद्ध और दोषरहित ज्ञान मानते हैं।[6] सच तो यह है कि वह ईश्वर को सत्-चित्-आनंद कहते हैं। यह विचार उनके औपनिषदिक प्रभाव की स्पष्ट झलक देता है। वह उसके इस स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सत्य के सिवाय अन्य किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है और जहां सत्य है, वहां शुद्ध ज्ञान है ही, क्योंकि जहां सत्य का अभाव है, वहां शुद्ध ज्ञान असंभव है। इसलिए ईश्वर के साथ चित् यानि ज्ञान की योजना हुई है और जहां ज्ञान है वहां आनंद ही का साम्राज्य होता है।[7]

तर्कों और युक्तियों द्वारा ईश्वर की सिद्धि असंभव है, क्योंकि वह मन, वाणी से परे है। किंतु सत्यानुगामी को इसकी अनुभूति बराबर होती रहती है। 11 अक्टूबर, 1928 को 'यंग इंडिया' में उन्होंने ईश्वर संबंधी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये कि वह 'एक अलोप्य रहस्यपूर्ण शक्ति है, जो सब में व्याप्त है। वह द्रष्टव्य नहीं बल्कि अनुभूति का विषय है। वह एक अदृश्य शक्ति है, जिसकी प्रतीति होती है किंतु उसे सिद्ध करने में तार्किक प्रमाण असमर्थ हैं, वस्तुतः वह उनके रूपांतरित आचरण और चरित्र से सिद्ध होता है जिन्होंने ईश्वर की विद्यमानता को अपने भीतर अनुभव किया है। ऐसा साक्ष्य सभी देशों और क्षेत्रों के पैगंबरों और ऋषियों के अनुभवों से प्राप्य है। इस साक्ष्य का प्रत्याख्यान करना अपने ही को अस्वीकार करना है।[8] अस्तु, परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एकमात्र उचित ध्येय है। जीवन के अन्य सभी कार्य ध्येय की प्राप्ति के लिए साधनमात्र होने चाहिए। जैसा कि पहले ही उद्धृत किया जा चुका है अपनी आत्मकथा के प्रारंभ में ही वे स्पष्ट करते हैं : "मेरा प्राप्तव्य आत्मदर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है।"[9]

स्पष्ट है कि ईश्वर, गांधीदर्शन का केंद्रीय बिंदु रहा है, शेष तत्व इसी केंद्र के चारों ओर विद्यमान थे। इससे एक नवीन दृष्टि का सृजन हुआ। ईश्वर के प्रति उनकी आस्था उनके अपने वैष्णव परिवार से मिली थी। बाल्यकाल में ही गांधी को 'राम नाम' के जप की शिक्षा मिली थी। अनेक वैष्णव राम को ईश्वर का अवतार मानते हैं किंतु

5. *हरिजन*, 22 जून 1947
6. *हरिजन*, 22 जून 1947
7. गांधी जी, मंगल प्रभात (फ्राम मखड़ा मंदिर) अहमदबाद। नव जीवन प्रकाशन मंदिर, 1945, अध्याय 1
8. और भी देखिए - *आत्मकथा*, पृ० 281
9. वहीं, पृ० 8

गांधी उन्हें ऐतिहासिक पुरुष के रूप मे न स्वीकार कर, अनादि, अनंत अद्‌वितीय मानकर अपनी पूजा एवं भक्ति अर्पित करते थे। 'अवतार' पर अपना विचार स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि ईश्वर व्यक्ति विशेष नहीं है। यह सोचना कि वह समय-समय पर पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, मात्र आंशिक सत्य है। वस्तुतः उसका अर्थ केवल इतना ही है कि अवतारी पुरुष ईश्वर के समीप रहता है। ईश्वर सर्वव्यापी होने के कारण प्रत्येक मानव-प्राणी के भीतर निवास करता है, इसलिए सभी को उसका अवतार कहा जा सकता है। अस्तु, राम, कृष्ण आदि को अवतार कहने का मात्र यही अर्थ है कि हम उनमें दैवी गुणों का आरोपण करते हैं। अतः वह मानव कल्पना की सृष्टि मात्र है।[11] इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए गांधी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि निःसंदेह अनेक लोग राम और कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानकर उनके जीवन से संबद्ध अनेक घटनाओं पर विश्वास करते हैं और उनकी पूजा कर मोक्ष की कामना करते हैं। किंतु गांधी के अनुसार यह विश्वास इतिहास, कल्पना और सत्य के अद्‌भुत संयोग का ही प्रतिफल है। उनका कहना है कि "मैंने ईश्वर में आरोपित सब नामों और रूपों को एक रूपरहित सर्वव्यापक राम के प्रतीकों के तौर पर मान लिया है" इसलिए उनकी दृष्टि में राम वह सर्वशक्तिमान तत्व है, जिसका नाम हृदयांकित होकर मानसिक, नैतिक और सभी कष्टों का निवारण कर देता है।[12] यही कारण है कि जीवन के अंतिम क्षणों में भी, हृदय में प्रेम का वरदान लिए, उनके होठों पर 'हे राम' ही का उच्चारण रहा।

गांधी के अनुसार ईश्वर की अनंत विभूतियां हैं। ये विभूतियां, "मुझे आश्चर्य चकित तो करती हैं, मुझे क्षण भर के लिए मुग्ध भी करती हैं।" वे उसके उसी रूप के पुजारी हैं शेष सभी कुछ मिथ्या है। उनकी सत्यनिष्ठा उन्हें यह कहने के लिए विवश करती है कि ईश्वर अभी तक 'मेरे हाथ नहीं लगा है, अभी तक मैं तो उसका शोधक मात्र हूं।' हां, उसके शोध के लिए वे अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी छोड़ने के लिए तैयार हैं और इस शोध रूपी यज्ञ में अपने शरीर को भी होम करने के लिए प्रस्तुत हैं। उनका विश्वास है कि इतनी शक्ति उनमें है। यही नहीं उनका विश्वास दिन-दिन बढ़ता जाता था कि सृष्टि में एकमात्र ईश्वर यानी सत्य की ही सत्ता है, और उसके शिवा दूसरा कोई नहीं है।[13]

ईश्वर में गांधी की आस्था अपूर्व है ऐंद्रिय दृष्टि से अप्रत्यक्ष होने के कारण तथा अनुभूतिगम्य होने के नाते वह उसे सामान्य अर्थ में अवर्णनीय मानते हैं। उपनिषद् भी तो उसे 'यतो वाचो विवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहते हैं। इसके बावजूद सामान्य

10. *हरिजन*, 8 अप्रैल, 1946
11. वहीं, 22 जून, 1947
12. *हरिजन*, 2 जून, 1946
13. *आत्मकथा*, पृ० 10, 253, 281, 436

विश्वासों को सुदृढ़ करने के निमित्त वे उसके लिए तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में 'यंग इंडिया' में प्रकाशित उनके विचार विशेष उल्लेखनीय हैं- 'सामान्यतया लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि कौन उन पर शासन करता है और क्यों व कैसे करता है। किंतु इतना तो सर्वविदित है कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जो उन पर शासन करती है। इसी प्रसंग में वह अपने मैसूर के दौरे का अनुभव बयान करते हैं- वहां के गरीब, देहातियों से यह पूछने पर कि : "मैसूर में किसका राज्य है?" उन सबों ने अनभिज्ञता व्यक्त करते हुए कहा कि शायद "किसी देवता का राज्य है।" गांधी का कथन है कि यदि उनका ज्ञान अपने राजा के प्रति इतना सीमित है, तब तो कोई आश्चर्य नहीं कि हम "राजाओं के राजा ईश्वर" की हस्ती का अनुभव न करें। मैसूर के गरीब देहातियों के समान हमें भी अवश्य अनुभव होता है कि विश्व में व्यवस्था है, समस्त विश्व का शासक एक अटल नियम है और यह कोई अंधा नियम नहीं हो सकता, क्योंकि सजीव प्राणियों के आचरण को संचालित करने वाला कोई नियम अंधा नहीं हो सकता। वस्तुतः यह नियम ही ईश्वर है। नियम और नियामक अभिन्न है। इसका अल्प ज्ञान मानव को है, इसलिए ईश्वर के अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता।[14] गांधी का कथन है कि ईश्वर के नियम शाश्वत और अपरिवर्तनीय हैं, वे ईश्वर से अलग नहीं किए जा सकते। यह ईश्वर की पूर्णता की आवश्यक शर्त है कि जो पूर्ण है उसे होना चाहिए।[15] वह सर्वत्र अंतर्भूत है, इसी नाते प्रत्येक व्यक्ति अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर, असत् से सत् की ओर यानी उसकी ओर अग्रसर हो रहा है। उपनिषद् वाक्य - "मृत्योर्मामृतंगमय, असतो मा सद्‌गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय" में उनकी पूरी आस्था थी।[16] वे मनुष्य के भीतर देवत्व की स्थिति को स्वीकार करते थे। उनका पूरा विश्वास था कि कालांतर में इसमें हमारे समूचे जीवन को आलोकित करने की शक्ति है। उनकी आत्मकथा तथा अन्य कृतियों में, अनेक स्थलों पर, ईश्वर की सत्ता विषयक अनेक प्रमाण देखने को मिलते हैं। वे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए 'यंग इंडिया' में अपने विचार यों व्यक्त करते हैं : "अगर हम हैं हमारे मातापिता हैं और उनके भी मातापिता थे, तो यह मानना भी उचित है कि इस सारी सृष्टि का भी कोई स्रष्टा है।[17] विश्व निहित प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुए वह कहते हैं कि संसार में एक व्यवस्था है, एक अपरिवर्तनीय नियम है, जो सभी वस्तुओं को, सभी प्राणियों को, जो भी है या अनुप्राणित है, नियमित करती है। वह अन्य नियम नहीं है, क्योंकि कोई भी अन्य नियम मानव-व्यवहार को नियंत्रित नहीं कर सकता... तो यह नियम जो सभी प्राणियों का नियमन करता है, ईश्वर है।[18] नित्यता के आधार पर वे इस प्रकार

14. यंग इंडिया, 11 अक्तूबर 1928
15. वहीं, 24 नवम्बर, 1927
16. वहीं, 11 अक्तूबर, 1928
17. *यंग इंडिया*, 21 जनवरी, 1926
18. वहीं, 3 मार्च, 1925

की युक्ति देते हैं, "मैं अस्पष्ट तौर पर यह जरूर अनुभव करता हूं कि जब मेरे चारों ओर हर चीज सदैव बदल रही है, नष्ट हो रही है तब इस सारे परिवर्तन के पीछे कोई चेतन (नित्य) शक्ति ऐसी है, जो बदलती नहीं है, जो सबको धारण किए हुए है, जो सर्जन करती है, संहार करती है और फिर नया सर्जन करती है।"[19] ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में गांधी जी नैतिक युक्ति को अत्यधिक महत्व देते हैं और इससे वे सदा प्रेरणा प्राप्त करते रहे। उनके लिए तो अंतरात्मा की आवाज ही ईश्वर की आवाज है। आत्मकथा में वे लिखते हैं : "यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि जो क्रिया मेरे अंदर चलती रहती है, वह अंतरात्मा की ही प्रेरणा हैं, परंतु वर्षों से मैं जो अपने छोटे-छोटे और बड़े-बड़े कहे जाने वाले कार्य करता आया हूं उनकी छानबीन करता हूं तो मुझे यह कहना अनुचित नहीं मालूम होता कि वे अंतरात्मा की प्रेरणा के ही फल हैं।"[20] किन्तु यह स्मरणीय है कि गांधी आस्था प्रधान व्यक्ति थे। तर्क को वे गौण स्थान देते थे।

स्पष्ट है कि गांधी ईश्वर के अनन्य भक्त रहे। उनकी अटूट भक्ति ने सभी धर्मों के असंख्य लोगों के हृदय को प्रभावित किया। प्रत्येक मानव-प्राणी में ईश्वर बीजवत् विद्यमान है- ऐसा विचार कर वे एक ओर मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता मानते हैं, किन्तु दूसरी ओर मनुष्य की मुक्ति एवं उसकी पूर्णता के लिए केवल ईश्वर की अनुकंपा और शरणागति को ही अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार जीवन के संयम व नियम का बल भी उन्हें राम ही से प्राप्त होता है।[21]

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि गांधी ईश्वरवादी दार्शनिक हैं। किन्तु कभी-कभी वे अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या में कहे गए उनके छिट-पुट कथनों का उनके स्थापित विचारों से कोई तालमेल नहीं बैठता। इसलिए उनके वास्तविक विचारों को ग्रहण करने में कठिनाई-सी होती है। 6 जून, 1947 की प्रार्थना सभा में गांधी इस प्रकार कहते है "ईश्वर के समक्ष हम सभी गोपियां हैं। ईश्वर स्वयं न नर है न नारी; उसके लिए न पंक्ति भेद है, न योनि भेद, वह नेति-नेति है। यह हृदय रूपी वन में रहता है उसकी वंशी है अंतर नाद। इसे पाने के लिए निर्जन वन में जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक को अपने अंतरतम में ही ईश्वर का दर्शन करना होगा इसी में भारत का कल्याण है।[22] कभी-कभी तो वे भारतीय दर्शन के ऐसे प्रत्ययों व शब्दों का भी प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं : जो प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जगत् हर

19. वहीं, 11 अक्तूबर, 1928
20. *आत्मकथा*, पृ० 280-281
21. आत्मकथा, पृ० 280-281
22. *गांधी साहित्य* - 1, *प्रार्थना प्रवचन* - पहला खंड, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, 1948 पृ० 129

क्षण बदल रहा है और इसलिए मिथ्या है, उसका कोई स्थायी अस्तित्व नहीं है। परन्तु सदा बदलते रहने पर भी उसमें कोई चीज ऐसी है, जो कायम रहती है, इसलिए वह उस हद तक सत्य है। इस कारण मुझे उसे सत्य और असत्य दोनों कहने में और इस प्रकार स्वयं अनेकांतवादी या स्याद्वादी कहलाने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु मेरा स्याद्वाद पंडितों का स्याद्वाद नहीं है, उसकी मेरी अपनी विशेष कल्पना है।"[23] वस्तुतः गांधी जी को दार्शनिक शब्दों के अर्थों की पूर्ण जानकारी थी और यही कारण है कि उन्होंने इनकी सच्चाई को समझते हुए, दृष्टिगत उदारता को प्राप्त किया। जैनी स्याद्वाद तथा अनेकांतवाद से उन्होंने यह सीखा कि संभी दृष्टियां अपनी-अपनी जगह सही हैं पर उनमें बंध कर ही दूसरों की दृष्टि गलत दिखाई देती है और यही कारण है कि उन्होंने सभी धर्मों की सच्चाई को उनकी दृष्टि से जाना और स्वीकार किया तथा उनके परस्पर विरोधों को उनकी संकुचितता का परिणाम माना।[24] अस्तु सभी धर्मों के प्रति गांधी की दृष्टि उदार थी और हमें उनके विचारों में विवेकानंद की दृष्टि ही की अभिव्यंजना मिलती है।

इसी प्रकार ईश्वर के सुगण-निर्गुण स्वरूप के विवाद को भी गांधी विवाद के रूप में नहीं देखते। वे ईश्वर के निर्विकार रूप को स्वीकार करते हुए उसके साकार होने की बात भी मानते हैं। पर उसके साकार होने से उनका आशय केवल इतना है कि ऐसे व्यक्तित्व की उससे पूर्ण एकलयता है- वह सदा उसके समीप अपने को बनाए रखता है।[25]

इसी प्रकार इस सृष्टि को ईश्वर की वास्तविक रचना मानते हुए भी गांधी कभी-कभी इसे मिथ्या घोषित करते हुए जान पड़ते हैं। किन्तु उनके कथन का गूढ़ार्थ समझने पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'मिथ्यात्व' का अर्थ संसार की 'अनित्यता' व 'क्षणिकता' से ही है। यह पूर्व उद्धृत 'यंग इंडिया' के लेख से भी स्पष्ट है। यह जगत् पूर्णतः असत् नहीं है, क्योंकि वह पीड़ितों एवं संत्रस्त मानवता को उबारने के लिए कर्मक्षेत्र है और इसी में रहकर, प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए ईश्वर से अपने को संयुक्त कर सकता है और मानवता के दुःख का निवारण कर सकता है। गांधी कहते हैं: "इस परिवर्तनशील असार संसार में आनंद या सच्चा सुख सचमुच एक सपना है। किन्तु हम अपने भाई-बंधुओं के दुःख को मिथ्या कहकर अपने नैतिक दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।"[26]

23. *यंग इंडिया*, 21 जनवरी, 1926
24. वहीं, 21 जनवरी, 1926
25. *हरिजन*, 21 जून, 1947
26. *हरिजन*, 21 जुलाई, 1946

अतएव गांधी विचार के गंभीर अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें किन्हीं 'वादों' में बांधना सर्वथा अनुचित है। फिर भी दार्शनिक उन्हें द्वैत और अद्वैत की परिधि में बांधते हुए कभी वैष्णव कहते हैं, कभी अद्वैतवादी। डा० धीरेंद्र मोहन दत्त कहते हैं : "सब मिला-जुला कर गांधी को शंकर के अनुयायी की तरह अद्वैतवादी होने की बजाए ईश्वरवादी वैष्णव कहना अधिक युक्ति-संगत होगा।"[27]

सत्य

गांधी ने 'सत्य' शब्द को बड़े व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है। उनका संपूर्ण जीवन इस व्यापक सत्य के प्रयोग की ही एक कहानी है। आत्मकथा के प्रारंभ में ही वह स्पष्ट कर देते हैं कि वह सत्य के लिए समय-समय पर किए गए प्रयोगों की कथा मात्र है।[28] हिंदू शास्त्रों में ईश्वर के सहस्र नाम हैं किंतु इन नामों में ईश्वर की सारी नामावली समाप्त नहीं हो जाती। गांधी कहते हैं कि जितने प्राणी हैं, उतने ही ईश्वर के नाम हैं, इसीलिए यह भी कहा जाता है कि वह अनाम है।[29] उपनिषद् में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा गया है। उसे ही संभवतः गांधी सत्य कहते हैं और इसका प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय की गहराई में अनुभव कर सकता है क्योंकि वही उसके जीवन का आधारभूत सत् है। सत्य की सीमा इतनी व्यापक है कि वह कह उठते हैं कि सत्य ही ईश्वर है। इन्होंने सत्य से भिन्न किसी परमेश्वर का कभी अनुभव ही नहीं किया। इस प्रकार ईश्वर एवं सत्य पर्याय है - समानार्थक है।[30] 'ईश्वर सत्य है' इसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए गांधी कहते हैं: 'सत्य' शब्द 'सत' से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति, सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है, कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्ता के बिना, सरदार के बिना नहीं चलता, इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि 'सत्' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करने वाला है।[31] इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए वह 'यंग इंडिया' में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि वस्तुतः सत्य की सीमा

27. धीरेंद्र मोहन दत्त, *महात्मा गांधी का दर्शन*, अनु० डा० रामजी सिंह, पटना, बिहार, हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1973, पृ० 20
28. *आत्मकथा*, पृ० 8
29. *यंग इंडिया*, 31 दिसम्बर, 1931
30. वहीं, 31 दिसंबर, 1931 पृ० 8
31. *गांधी साहित्य*-5, धर्मनीति, नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल, प्रकाशन, 1962, पृ० 89 और भी देखिए :- 'हरिजन' 9 अगस्त, 1942

में हिंदू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी धर्मों के तत्वों का समावेश हो जाता है - हिंदू तत्वज्ञान में ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है, वही सत्य इस्लाम के कलाम में भी प्रबल रूप में व्यक्त हुआ है।

अंग्रेजी शब्द 'ट्रुथ' के लिए संस्कृत में 'सत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ है 'जो है'। इसी कारण वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि 'सत्य ही ईश्वर है।' यह परिभाषा गांधी को अधिक संतोष प्रदान करती है। उनका कहना है कि संसार की वस्तुओं और भावों के अनेक अर्थ हो सकते है यहां तक की प्रेम के भी अनेक अर्थ हैं किन्तु सत्य के बारे में दो अर्थ नहीं हैं। इसीलिए यह सभी को मान्य है। नास्तिकों ने भी सत्य की अनिवार्यता व शक्ति को स्वीकार किया है। वस्तुतः मनुष्य के संपूर्ण तर्क का आधार सत्य ही है। इसलिए जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सच्चाई के साथ अस्वीकार भी किया है, उन्होंने भी सत्य को अस्वीकार नहीं किया।[32]

तर्क सत्य को कभी छोड़ नहीं सकता क्योंकि वही उसका आधार है। मानवता की प्रगति ईश्वर-संबंधी धार्मिक अंधविश्वास की अपेक्षा बुद्धि एवं तर्क पर निर्भर करती है, क्योंकि अंधविश्वास के कारण संसार में तमाम-अत्याचार-अनाचार को प्रश्रय मिला है। इन्हीं कारणों से गांधी ने ईश्वर से अधिक महत्व सत्य को दिया। इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि ईश्वर या सत् जगत् का एकमात्र आधार है।

किन्तु गांधी की इस सत्यनिष्ठा से ईश्वर में उनकी निष्ठा को तनिक भी क्षति नहीं पहुंचती बल्कि उसकी गरिमा में वृद्धि ही होती है। यहां तक कि नास्तिकों की सत्यनिष्ठा भी उन्हें ईश्वरनिष्ठा का ही एक रूप दिखाई देता है।[33] उन्होंने मात्र वैयक्तिक जीवन में ही नहीं सार्वजनिक व अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी सत्य से प्रेम एवं निष्ठा की बात की है।

इसी सत्य से प्रेरित होकर उन्होंने निरंतर इस बात की घोषणा की कि अनुचित साधनों से कभी उचित साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस संदर्भ में 8 जून, 1947 के प्रार्थना प्रवचन की ये पंक्तियां उल्लेखनीय हैं: "नापाक साधन से ईश्वर को नहीं पाया जा सकता और बुरी चीज को पाने का साधन साफ नहीं हो सकता।" जो साधन अनुचित होते हैं वे प्रायः साध्य का ही अंत कर देते हैं, फलस्वरूप नवीन समस्याएं और कठिनाइयां उठ खड़ी होती हैं।

अतः परिणाम की परवाह न करते हुए गांधी जी आजीवन अनौचित्य व असत्य से स्वतः लड़ते रहे और अन्य को भी उद्बोधित करते रहे। उनका अपना जीवन इसका ज्वलंत प्रमाण है। इसी सत्य से दीन और दुःखियों की सेवा उनके जीवन की प्रबल प्रेरणा बन गई थी, क्योंकि जहां असमानता, भेदभाव और शोषण की व्यवस्था है, वहीं

32. *यंग इंडिया*, 31 दिसम्बर, 1931
33. वहीं, 5 मार्च, 1925

अन्याय, अनाचार और असत्य का बोलबाला है। इस प्रकार वह शोषित और पीड़ित जन के प्रिय बन गए। अन्य शब्दों में वे आदर्श मानव के महान् प्रतिनिधि बन गए। नेहरू जी के शब्दों में, "इसी सत्य के कारण जहां कहीं वह बैठते मंदिर हो जाता और जिस जगह पदार्पण करते वह पवित्र स्थल बन जाता।[34]

इस सत्य रूपी साध्य की प्राप्ति के निमित्त गांधी प्रेम व अहिंसा के मार्ग का वरण करते हुए कहते हैं : 'जब आप ईश्वर को सत्य के रूप में पाना चाहते हैं, तब उसका एकमात्र अनिवार्य साधन प्रेम अर्थात् अहिंसा ही है।'[35]

अहिंसा

यद्यपि जीवन शैली के रूप में सत्य और अहिंसा बहुत प्राचीन है, तथापि गांधी ने जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए इन्हें जिस रूप में स्वीकार किया वह प्रयोग अपने में अप्रतिम था। उन्होंने अपनी माता से बराबर ही 'अहिंसा परमो धर्मः' और 'सत्यमेव जयते' का मंत्र सुना था। इस मंत्र को उन्होंने अपने जीवन दर्शन में जिस नवीनता और व्यापकता के साथ लागू किया वह अद्‌भुत था। उनके हृदय को, मानव जाति में व्याप्त जो असीम दारुण व्यथा संत्रस्त किए हुए थी, उसका एक अनूठा समाधान अहिंसा व प्रेम में मिला।

भगवान् बुद्‌ध एवं अन्य धर्म प्रवर्तकों ने भी अहिंसा को स्वीकार किया और पीड़ित मानवता के उद्‌धार के निमित्त नूतन धार्मिक संदेश भी प्रसारित किया। किन्तु सामान्य जनता के जीवन स्तर को ऊँचा करने में कोई भी पूर्णतः समर्थ नहीं हो सका। सामान्य जीवन के जो कठोर सामाजिक बंधन हैं जो जनता को अनुशासित कर रहे हैं और जो सामाजिक और आर्थिक विषमताएं हैं, दीनों व दुखियों को जिन्हें तरह-तरह के अपमान एवं अवहेलनाएं सहनी पड़ती हैं, उनके प्रति अतिशय संवेदना रखने वाला यदि कोई व्यक्ति हुआ है तो वह महात्मा गांधी ही हैं और उनका मार्ग है प्रेम व अहिंसा। नरेंद्र देव ने उन्हें 'सर्वश्रेष्ठ मानव' घोषित करते हुए कहा है, "उनकी अहिंसा बेजोड़ थी"[36] भगवान् बुद्‌ध ने कहा था। "अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्" अर्थात् अक्रोध से क्रोध को जीतना चाहिए। यद्‌यपि उनकी अहिंसा का सिद्‌धांत व्यक्तिगत आचरण का उपदेश मात्र न था, किन्तु सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए अहिंसा को एक उपकरण

34. नेहरू, जवाहर लाल, *राष्ट्रीयता*, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, वहीं, पृ० 1961, पृ० वहीं, पृ० 151 मार्च, 141
35. गांधी, *सत्य ही ईश्वर है*, संपा० आ० के० प्रभु, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, 1959, पृ० 15 और भी देखिए - *गांधी साहित्य* -1, *प्रार्थना प्रवचन*, पहला खंड, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, 1948, पृ० 129
36. *गांधी व्यक्तित्व विचार प्रभाव*, गांधी शत संवत्सरी के उपलक्ष्य में प्रकाशित, संपादक काका साहब कालेलकर आदि, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, 1966, पृ० 467

बनाना तथा राजनैतिक क्षेत्र में अपने महान् ध्येय की प्राप्ति के लिए उसका सफल प्रयोग करना महात्मा गांधी का ही काम था और चूंकि वे सारे संसार में अहिंसा को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, इसलिए उनकी अहिंसा की व्याख्या भी बेजोड़ और निराली थी।

मात्र हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है। शब्द की दृष्टि से अहिंसा निषेधात्मक है, किंतु अर्थ की दृष्टि से भावात्मक है। शब्द के अनुसार उसका अर्थ है, मन-वचन-कर्म से किसी को पीड़ा न देना और अर्थ की दृष्टि से उसका अभिप्राय है, समस्त प्राणियों के लिए प्रेम। आज अहिंसा का जो रूप प्रचलित है, वह उसका वास्तविक एवं पूर्ण रूप नहीं हैं। अहिंसा कोई स्थूल वस्तु नहीं। गांधी का कहना है कि अहिंसा के सिद्‌धांत को प्रत्येक बुरे विचार से, अनुचित क्रियाकलाप से, झूठ बोलने से, घृणा से और किसी का अहित चाहने मात्र से आघात पहुंचता है।[37] यह प्रेम की विधायक स्थिति है। ऐसा व्यक्ति जो इस सिद्‌धांत को जीवन में चरितार्थ करता है, अनाचारी से भी घृणा नहीं करता, उसके भी कल्याण की कामना करता है। अस्तु, अहिंसा अथवा प्रेम को धर्म के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए गांधी कहते हैं कि यदि ये दोनों मानव जीवन के धर्म नहीं हैं, तो संसार में होने वाली भयंकर लड़ाइयों तथा विविध अत्याचारों से हम कभी मुक्त नहीं हो सकते।[38] यही नहीं प्रेम और अहिंसा धर्म के फलस्वरूप ही मृत्यु के भीतर जीवन कायम रहता है। यह धर्म ही मनुष्य और पशुजीवन का बुनियादी भेद प्रतिपादित करता है, क्योंकि मनुष्य दिन-प्रतिदिन इसे अधिकाधिक मात्रा में स्वीकार कर अपने जीवन में मूर्तिमान करने के प्रयास में रत है और पशु को इसकी चेतना भी नहीं रहती।[39] यही कारण है कि अहिंसक का कोई शत्रु नहीं होता।

गांधी अहिंसा को सत्य का पर्याय मानते हैं। उन्होंने सत्य एवं अहिंसा की अभिन्नता पर बारंबार बल दिया है। वे कहते हैं: "अहिंसा और सत्य आपस में इतने गुंथे हुए हैं, कि उन्हें सुलझा कर अलग करना लगभग असंभव है। वे एक सिक्के के या यों कहिये कि धातु के एक चिकने गोल टुकड़े के दो पहलुओं की तरह हैं। कौन कह सकता है कि यह उल्टा है और यह सीधा?" फिर भी वह स्पष्ट कहते हैं कि अहिंसा साधन है और सत्य साध्य है।[40] वस्तुतः साधन वही है जो सदैव हमारे लिए करणीय हो और इसलिए अहिंसा हमारा सर्वोच्च धर्म है। अतः यदि मानव उचित साधन का सहारा ले तो देर-सबेर साध्य तक पहुंचेगा ही। गांधी के साध्य एवं साधन अंत में एक ही हो जाते हैं। यही कारण है कि गांधी साध्य के साथ-साथ साधन के औचित्य पर

37. *गांधी जी, सत्य ही ईश्वर है*, पृ० 35
38. *हरिजन*, 26 सितंबर 1936
39. वहीं, 26 सितंबर, 1936
40. *हरिजन*, 26 सितंबर 1936

पूरा-पूरा बल देते हैं। यंग इंडिया में उन्होंने लिखा है : अहिंसा मेरा ईश्वर है और सत्य मेरा ईश्वर है। जब मैं अहिंसा को ढूंढ़ता हूं तो सत्य कहता है, 'मेरे द्वारा उसे खोजो।' जब मैं सत्य की तलाश करता हूं तो अहिंसा कहती है : 'मेरे जरिए उसे खोजो।'[41] अतः गांधी के अनुसार अपने सच्चे रूप में ईश्वर सत्य, अहिंसा और प्रेम समानार्थक शब्द हैं।[42]

अहिंसा को गांधी ने बहुत बड़े बल के रूप में प्रयुक्त किया है। इसी बल के कारण मनुष्य जानवरों से भिन्न है यह पूर्व पृष्ठ में स्पष्ट किया जा चुका है। वह कहते हैं कि अहिंसा सर्वोच्च प्रकार की सक्रिय शक्ति है, वह आत्मबल अथवा मानव के भीतर विद्यमान भगवान् की शक्ति है।[43] वस्तुत : मनुष्य ने अपनी सूझ-बूझ के द्वारा विनाश के जिन प्रबल से प्रबल हथियारों का अनुसंधान किया, उनसे भी यह प्रबल है। विनाश मानव का धर्म नहीं है, इसलिए प्रत्येक हत्या या अपराध चाहे उसका कारण, कुछ भी रहा हो, मानवता के विरूद्ध अपराध है।[44]

अतएव अहिंसक के आवश्यक गुण के रूप में उन्होंने नम्रता हो स्वीकार किया। उनके अनुसार नम्रता के बिना सत्य, अहिंसा, अहंकार पूर्ण दिखावा मात्र होगा। अस्तु, अहिंसक कभी निर्दयी और अभिमानी नहीं हो सकता।[45] आत्मकथा में भी इसके महत्व को व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं : "अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है, उसकी हद है और यह अनुभवसिद्ध बात है कि इस तरह की नम्रता के बिना मुक्ति कभी नहीं मिल सकती।"[46]

जगत्

गांधी दर्शन के केंद्र बिंदु ईश्वर के प्रत्यय से ही जगत् का विचार निःसृत होता है। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है, गांधी पारिभाषिक अर्थ में दार्शनिक नहीं थे। इसलिए वह जगत्, आत्मा और ईश्वर जैसी मौलिक समस्याओं के तार्किक विवेचन एवं विश्लेषण में पड़े ही नहीं। यही कारण है कि व्यवस्थित रूप से, किसी एक स्थान पर उन्होंने जगत् एवं अन्य तात्विक समस्याओं का प्रतिपादन नहीं किया। किन्तु विभिन्न संदर्भों में उनके द्वारा व्यक्त किये गए विचारों से हमें उनके जगत् संबंधी विचार का स्पष्ट आभास मिलता है। वह 'सीय राम मय सब जग जानी' में विश्वास कर संपूर्ण

41. *यंग इंडिया*, 4 जून, 1925
42. वहीं, 31 दिसंबर, 1931
43. वहीं, 12 नवंबर, 1938
44. *हरिजन*, 20 जुलाई, 1935
45. यंग इंडिया : 25 जून, 1925
46. *आत्मकथा*, पृ० 505

जगत को ईश्वर के दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति मानते थे इसीलिये उन्होंने प्रकृति-चेतन और अचेतन का परंपरागत भेद भी नहीं स्वीकार किया। शब्दांतर से यह जगत्-प्रकृति सर्वव्यापी, रहस्यमयी, सामान्य सत्ता की बाह्याभिव्यक्ति मात्र है। ईश्वर संसार के कण-कण में व्याप्त है। वह इस जगत् में अनेकानेक रूपों में प्रकट होते हैं और उनके प्रत्येक रूप के लिए हममें स्वयं स्फूर्ति, श्रद्धा और भक्ति जागृत होती है। यही कारण है कि गांधी प्राकृतिक दृश्यों को देख कर मुग्ध रह जाते और एक दिव्य भक्ति व सम्मान की भावना से अभिभूत हो जाते थे।

प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं को वह भगवत् कृपा का परिणाम मानते थे। जून, 1929 में अल्मोड़ा और कौसानी में 15 दिन के अपने विश्राम काल के मध्य गांधी ने वहां के प्राकृतिक दृश्यों से मुग्ध होकर कहा था- "यदि हिमालय न हो तो गंगा, जमुना, ब्रह्मपुत्र और सिंधु भी न हो, हिमालय न हो तो ये नदियां न हों, न वर्षा हो और वर्षा न हो तो भारत रेगिस्तान या सहारा की मरुभूमि बन जाए।" इस बात से अभिज्ञ पुरुष, और सदैव प्रत्येक बात के लिए ईश्वर का उपकार मानने वाले हमारे दूरदर्शी पूर्वजों ने हिमालय को यात्रा धाम बना दिया। इस प्रदेश में हजारों हिंदुओं ने ईश्वर की खोज में अपने आपको उत्सर्ग कर दिया। गांधी कहते हैं कि उनकी तपश्चर्या का ही परिणाम है, कि आज हिंदू धर्म और हिंदुस्तान जिंदा हैं।[47] प्राकृतिक सुषमाओं के प्रति गांधी जी अत्यंत संवेदनशील रहे और उन्होंने उसकी अपने ढंग से व्याख्या की। कौसानी की प्राकृतिक छटा से स्वतः अभिभूत हो वे जन-साधारण को उद्बोधित करते हुए कहते हैं : "सच्चा हिमालय तो हमारे हृदय में है। इस हृदय रूपी गुफा में छिपकर उसमें शिव-दर्शन करना ही सच्ची यात्रा है, यही पुरुषार्थ है।"[48] इस प्रकार गांधी अंदर से बाहर तक ईश्वरीय दिव्य आभा का दर्शन करते हुए जीवन पर्यंत प्राकृतिक वातावरण में प्राकृतिक जीवन जीने का ही प्रयत्न करते रहे। उनका प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति के प्रति अगाध विश्वास उनके प्रकृति प्रेम का एक ज्वलंत प्रमाण है।[49]

गांधी जी का अटूट विश्वास था कि ईश्वर की अभिव्यक्ति प्राकृतिक सामंजस्य में ही होती है जहां किसी प्रकार का विकार नहीं रहता और जहां घृणा तथा अशुभ के बदले मानव की साधुता और उसके प्रेम का दर्शन होता है। प्राकृतिक सौंदर्य में ईश्वर की उपस्थिति में अभिभूत गांधी कहते हैं, "इसमें मुझे सचमुच मानव के अन्तर की गंभीर सहानुभूति एवं काव्यगत सौंदर्य के दर्शन होते हैं। यह उन संपूर्ण वनस्पतियों के प्रति हमारे सच्चे समादर के भाव हैं, जो मानो अपने अनंत रूप और रंग, सौरभ और सुषमाओं के द्वारा सहस्त्रों मुखों से ईश्वर के दिव्य गान गा रही हैं।"[50]

47. श्री रामनाथ 'सुमन', *उत्तर प्रदेश में गांधी जी*, लखनऊ, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1969, पृ० 131 से उद्धृत।
48. वहीं, पृ० 132
49. आत्मकथा, पृ० 171
50. *यंग इंडिया*, वर्ष 1928, सितंबर 26 और भी देखिए - वहीं, वर्ष 1924, नवंबर 13

ईश्वरीय नियम द्वारा संचालित यह संसार ही वह तपोभूमि व क्षेत्र है, जहां मानव द्वारा अपने अथक परिश्रम व तपोबल के द्वारा समस्त मानव की सेवा कर, परम तत्व की उपलब्धि कर सकता है।[51]

मानवतावादी दृष्टि

स्वामी विवेकानंद की भांति ही एक आध्यात्मिक दृष्टि के तहत गांधी मानव के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार मानव, परम सत् परमेश्वर का स्फूल्लिंग मात्र है। वस्तुतः मनुष्य एक संश्लिष्ट जीव है। उसकी काया प्रकृति प्रदत्त होने के कारण प्रकृति का ही एक अंग है। प्रकृति के नियमों के अधीन ही उसका सृजन एवं संहार होता है। किन्तु मनुष्य मात्र भौतिक शरीर ही नहीं है, उसमें चेतना, तर्क, विवेक, भावना, संकल्प आदि शक्तियां भी निहित हैं। वे सब आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं। किंतु शरीर और चेतना दो भिन्न सत्ताएं नहीं हैं- ये परम तत्व ईश्वर की ही अभिव्यक्तियां हैं- वह कभी शरीर, कभी आत्मा, कभी जड़, कभी चेतन रूप में व्यक्त होता है।

मानव और ईश्वर के संबंध में गांधी के विचार शांकरमत की अपेक्षा वैष्णव विचार के अधिक समीप हैं। जीव को वे ईश्वर का अंश मानते हैं। 'हरिजन' में उन्होंने लिखा है : "मैं संपूर्ण का एक अविभाज्य अंग हूं और मैं उसे शेष मानवता से अलग नहीं पा सकता।"[52] आधुनिक समय में उनकी सबसे प्रसिद्ध उक्ति इस्लाम के अनुयायियों में इस प्रकार प्रचलित है- 'आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।' यहां हम जीव और ईश्वर के मध्य एक प्रकार के भेदाभेद संबंध का दर्शन करते हैं। वस्तुतः यही गांधी की मानववादी विचारधारा का आधार बिंदु है।

मनुष्य ईश्वर का अंश है अतएव नर में नारायण का वास है। ईश्वर अपने आप को, मनुष्य के माध्यम से ही अभिव्यक्त करता है, क्रियान्वित करता है। इस अर्थ में प्रत्येक मनुष्य ईश्वर की शक्ति का केंद्र है। वह मानवता में निहित सच्चाई एवं पवित्रता है। इसी आधार पर वे 'पंच परमेश्वर' की कल्पना प्रस्तुत करते हैं। यही नहीं उन्होंने ईश्वर को विशेषतः दरिद्र रूप में स्वीकार किया है। वह कहते हैं कि ईश्वर दुःखी दीन व दरिद्रों के अंतरतम में निवास करने वाला है। उन्होंने लिखा है कि मानव जाति ईश्वर को जिन अनंत नामों से पहचानती है, उनमें से एकनाम 'दरिद्र नारायण' है जिसका अर्थ है गरीबों का यानी उनके हृदय में प्रकट होने वाला ईश्वर।[53] वह यहां तक कहते हैं : "गरीबों के लिए रोटी ही अध्यात्म है। उन करोड़ों भूखों को आप और किसी तरह प्रभावित नहीं कर सकते। कोई दूसरी बात उनका ध्यान आकर्षित नहीं कर सकती।

51. *यंग इंडिया*, 3 अप्रैल, 1924
52. *हरिजन*, 29 अगस्त, 1936
53. यंग इंडिया, 4 अप्रैल, 1929

हां, आप उनके पास भोजन लेकर जाइए तो वे आपको ही अपना ईश्वर समझ लेंगे। वे और कोई विचार कर ही नहीं सकते।"[54] इस प्रकार उनका राम दीनदाता, दीनदयाल है। वह मानवता में अंतर्व्याप्त शाश्वत ज्योति है। इस ज्योति से अभिभूत हो प्राणिमात्र की सेवा ही सच्ची ईश्वर भक्ति है और उसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है। अतः ईश्वर की प्राप्ति के लिए गांधी वन-कंदराओं और हिमालय की गुफाओं में जाने की बजाय मानवता का पूजा का वरण करते हैं।[55] उनका दृढ़ विश्वास था कि गुफाओं, कंदराओं में एकांतवास करने वाले साधकों की अपेक्षा जनसेवा और जनकल्याण में रत व्यक्ति ईश्वर के अधिक समीप होता है। वस्तुतः दुःखी, आर्त व क्लांतों का उद्धारक ही सच्चा भक्त है। उनके लिए पवित्रता और मानवसेवा अभिन्न थे। उनका स्पष्ट कथन था कि ईश्वर पवित्रता की पराकाष्ठा है और जनसेवा ही उस तक पहुंचने का एक अनूठा अहिंसात्मक साधन है। वस्तुतः यह कर्म के द्वारा सत्य की अनोखी साधना है। वे नरनारायण की आराधना को मुक्तिसाधना के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं: "मेरे लिए मोक्ष का मार्ग यही है कि मैं अपने देश की और देश के द्वारा मानवजाति की सेवा के लिए अथक परिश्रम करता रहूं। मैं सब प्राणियों के साथ एकता स्थापित करना चाहता हूं।"[56]

गांधी दर्शन का यह स्वर समकालीन दर्शन का स्वर था। विवेकानन्द तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी ईश्वर-आराधना को मंदिरों तक सीमित न कर उसे जीवन से जोड़ने का प्रयास किया था। स्वामी विवेकानन्द ने ही सर्व प्रथम दरिद्र नारायण की बात की थी और उनका रामकृष्ण मिशन आज भी पीड़ितों की सेवा का व्रत लिए हुए है।

अपनी अहिंसात्मक साधना के माध्यम से गांधी मानववाद के एक अनूठे– कल्याणकारी सिद्धांत को प्रस्तुत करते हैं– "पाप से घृणा करो पापी से नहीं।" इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि मनुष्य और उसका कार्य–ये दो भिन्न चीजें हैं। अस्तु अच्छे काम के प्रति हृदय में सम्मान और बुरे काम के प्रति तिरस्कार का भाव अवश्य ही होना चाहिए। किन्तु अच्छे-बुरे काम करने वाले के प्रति मन में सदैव आदर या दया का भाव ही होना चाहिए। गांधी का दृढ़ विश्वास था कि जब तक यह अहिंसा हाथ न लगेगी, तब तक सत्य की प्राप्ति संभव ही नहीं हैं। किसी तंत्र या प्रणाली का विरोध तो अच्छा है, लेकिन उसके प्रवर्तक का विरोध करना मानो स्वयं अपना ही विरोध करना है, क्योंकि ऐसा करने से तो उस प्रवर्तक के साथ-साथ संसार का अहित होगा।[57]

54. वहीं, 5 मई, 1927
55. *हरिजन*, 1936, अगस्त 29
56. *यंग इंडिया*, 3 अप्रैल, 1924
57. आत्मकथा, पृ० 227

इस प्रकार गांधी की अहिंसात्मक साधना मानवता के मंगल विहान व विकास की कुंजी है। ऐसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। इसंके तहत गांधी जीवन पर्यंत हताश व निराश देशवासियों के हृदय में साहस और आत्म विश्वास की दिव्य प्रेरणा का संचार करते रहे। उनके प्रार्थना-प्रवचन इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। 26 जून, 1947 के प्रार्थना-प्रवचन में गांधी ने कहा था: "मैं तो सर्व-धर्म-एक समान का मानने वाला हूं। इसलिए अहिंसा के लिए मेरे दिल में नफरत हो नहीं सकती और न मुझ को हिंसा से खुशबू ही आने वाली है।... उस-अहिंसा की खुशबू यदि मैं आप लोगों को भी दिला दूँ तो मेरा काम हो जाता है। अहिंसा से बदबू कभी आ ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें खुशबू ही भरी पड़ी है।" उनकी प्रार्थना का अति प्रसिद्ध व प्रिय भजन था — 'रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीता राम।' 'ईश्वर अल्ला तेरो नाम, सबको सन्मति दे भगवान।' इस प्रार्थना में भी समस्त मानवता के कल्याण की ही कामना करते हैं और इसी भाव से प्रेरित होकर वह ईश्वर से मानव को सद्बुद्धि देने की याचना करते हैं।

गांधी के अनुसार ईश्वर मनुष्य को सदैव विकास के पथ पर अग्रसर करने के लिए तत्पर है। उसने मनुष्य को संकल्प-स्वातंत्र्य दिया है, जिसके कारण वह अपने तर्क और अंतर्विवेक के सहारे निरंतर प्रगति कर सकता है और बंधुत्व की भावना का प्रसार कर सारी मानवता का उद्धार कर सकता है। इस अर्थ में मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। यदि मनुष्य अपनी सम्यक् बुद्धि का उपयोग करे और अपनी अंतरात्मा की आवाज के अनुरूप जीवनयापन करते हुए दीनहीन मानव के साथ दया और बंधुत्व का भाव रखे तो उसे ईश्वर का साक्षात्कार इस संसार में ही हो जाएगा। किंतु अपना भाग्य बनाने के लिए भी मनुष्य को अपने चरित्र की विशिष्टता को समझना होगा। साथ-ही-साथ धर्म और नैतिकता को भी समझना होगा। गांधी के अनुसार ये दोनों समानार्थक हैं और ये ही मानव जीवन के आधार हैं। ये ही मानव के अंदर संघर्ष और विनाश की भावनाओं व वृत्तियों का दमन कर परोपकार, शांति व दया आदि उदात्त वृत्तियों को प्रोत्साहित करते हैं। इसलिए नैतिकता का सर्वाधिक मूल्य है। मनुष्य चाहे तो अपनी अंतरात्मा की उपेक्षा कर, सत्य से मुख मोड़कर अपने को नीचे भी गिरा सकता है, फलतः पशु बन सकता है और इसके विपरीत यदि वह सत्य में निष्ठा रखते हुए नैतिक आचरण करे तो धीरे-धीरे देवत्व को प्राप्त कर सकता है।[58] किन्तु इसके लिए आत्मिक शुद्धता एक आवश्यक शर्त है, उसके बिना अंतरात्मा की आवाज सुनना असंभव है।[59] 'हरिजन' में उन्होंने लिखा है, "मेरे लिए ईश्वर की, अंतःकरण की या सत्य की आवाज या जिसे मैं अंतर्नाद कहता हूं- सब एक ही अर्थ के सूचक शब्द हैं।...

58. गांधी जी, *सत्य ही ईश्वर है*, पृ० 29-30
59. *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा*, पृ० 76

और इस आवाज को जो चाहे सुन सकता है। वह हर एक के अंदर है। लेकिन दूसरी चीजों की तरह उसके लिए भी निश्चित पूर्व तैयारी की आवश्यकता है।"[60] इस पूर्व तैयारी के रूप में गांधी ने हिंदू नैतिकता के स्रोत 'महाव्रत' के साथ अन्य व्रतों का समन्वय कर कुल एकादश आश्रम-व्रतों का विधान किया। वस्तुतः ये आश्रम-व्रत गांधी नीति के आधारभूत सिद्धांत- सत्य और अहिंसा के ही विस्तार मात्र हैं। उनका समावेश एक श्लोक[61] में करके उसे गांधी जी की सुबह-शाम की प्रार्थनाओं मे गाया जाता था।

गांधी जी के एकादश व्रतों में यूं तो सभी महत्वपूर्ण हैं, और अंतरंग रूप से जुड़े हुए हैं, क्योंकि उन सब के माध्यम से मनुष्य को हृदय की पवित्रता प्राप्त करनी है, जिससे उसमें अंतरात्मा की आवाज सुनने की क्षमता जाग्रत हो जाए। इन सब व्रतों में पंच महाव्रत- सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हमारे जीवन में सदैव से ही स्वीकृत हैं। गांधी जी ने इनमें सामयिक दृष्टि से जिन छह महाव्रतों को जोड़ा है, उनमें शरीर श्रम और स्वदेशी, अस्पृश्यता-निवारण तथा सर्व-धर्म-समभाव, अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

शरीर-श्रम और स्वदेशी

जीवन निर्वाह के निमित्त आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करने हेतु स्वयं शरीर-श्रम करना पंच महाव्रतों के अस्तेय और अपरिग्रह आदि से ही जुड़ा हुआ नियम है। जीवन यापन के लिए जो पदार्थ अति आवश्यक हैं किंतु परिश्रम के बिना जिनकी उत्पत्ति संभव नहीं, उनके लिए स्वयं शारीरिक श्रम किए बिना उनका उपभोग करना एक प्रकार की चोरी है। गांधी के अनुसार पारमार्थिक भाव से ऐसा श्रम करने का नाम यज्ञ है। स्वतः अपने श्रम से उपार्जित वस्तुओं का स्वयं ही उपभोग करने की कामना रखना सकाम कर्म है किन्तु सामान्य हित की दृष्टि से सबके उपभोग के लिए उपार्जित पदार्थ पर व्यय किया गया श्रम-निष्काम कर्म है - और वही यज्ञ है।[62] इसकी झांकी भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में मिलती है। गांधी स्वयं कहते हैं: "यज्ञ किए बिना जो

60. हरिजन, 8 जुलाई, 1933
61. अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह,
शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्र, भय वर्जन।
सर्वधर्म-समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावन।
कृपालानी, जीवनराम, भगवानदास, *महात्मा गांधी - जीवन और चिंतन*, सूचना और प्रसारण मत्रालय, भारत सरकार, 1978, पृ० 358 से उद्धृत।
62. मशरुवाला, किशोरलाल ध० *गांधी-विचार दोहन*, अनु० आनंदवर्धन, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, 1968 पृ० 21-22

खाता है, वह चोरी का अन्न खाता है ऐसा कठिन शाप यज्ञ नहीं करने वाले को गीता में दिया गया है।"[63] वस्तुतः जीवन के भरण-पोषण अथवा रोटी के लिए किया गया श्रम या मजदूरी गांधी के अनुसार ईश्वरीय नियम है।[64] इसलिए मानवता के उत्थान के लिए शरीर श्रम मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्य है।

शरीर-श्रम के सिद्धांत से ही स्वदेशी का उद्भव होता है। अस्तेय और अपरिग्रह का आदर्श रखने वाले मनुष्य के लिए दूसरों के श्रम का उपभोग करना असंभव है। वस्तुतः स्वदेशी प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। अस्तु, स्वदेशी मानव-सेवा का ही एक रूप है, जो पड़ोसी की आवश्यकताओं पर तुरंत ध्यान देकर की जा सकती है। मानवता से प्रेम करने वालों को अपनी सेवा कहीं न कहीं से तो प्रारंभ करनी ही होगी अतः गांधी के मत में उसका प्रारंभ पड़ोसी की सेवा से ही होनी चाहिए। वे कहते हैं, "अपने आस-पास रहने वालों की सेवा में ओत-प्रोत रहना स्वदेशी धर्म है।"[65] स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी सेवा होती है। यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे स्वदेशी का व्रती कभी विदेशी से द्वेष भाव नहीं रखता।[66] स्वदेशी भावना का विकास कई रूपों में हुआ है- इसका व्रती अन्य व्रतों का धारक होने के कारण मिलों में बनी वस्तुओं का उपयोग नहीं कर सकता क्योंकि मिलों में कई व्रतों का उल्लंघन होता है, वहां मजदूरों का शोषण होता है, जीवों की हिंसा होती है, साथ ही कृत्रिम ढंग से शरीर को आकर्षित बनाने के कारण ब्रह्मचर्य में भी बाधा पड़ती है। आगे चलकर स्वदेशी खादी का पर्याय हो गया। उनका कथन है, "मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा... जिसके अनायास पालने से भी हिन्दुस्तान के करोड़ों की रक्षा हो सकती है, ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है? जवाब में चर्खा और खादी मिली।"[67] गांधी के लिए खादी मानवीय एकता और स्वतंत्रता का प्रतीक है, इसलिए आगे चलकर स्वदेशी स्वराज्य का पर्याय बन गया। उन्होंने 'स्वराज थ्रू चरखा' में कहा है कि खादी का आदर्श सदा ही ग्रामों के पुनरुद्धार का सबसे बढ़िया साधन रहा है। इसके जरिए गरीबों में सच्ची शक्ति पैदा होगी, जिससे स्वराज अपने आप आ जाएगा। अतएव उनके अनुसार स्वदेशी कोई संकुचित धर्म न होकर इस युग का महाव्रत है। यह प्रेम व अहिंसा से निष्पन्न सुंदर धर्म है। इसलिए मानवता के विकास के लिए आवश्यक है।

63. गांधीजी, शरीर-श्रम, संग्राहक : रवींद्र केलेकर, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन, 1960, पृ० 6-7
64. वहीं, पृ० 6
65. *गांधी साहित्य*, 5, धर्मनीति, पृ० 126
66. वहीं, पृ० 126
67. वहीं, पृ० 127

अस्पृश्यता निवारण

गांधी अपने को सनातनधर्मी हिंदू कहते थे और हिंदूत्व को मानवता का पर्याय मानते थे। वह कहा करते थे, "मेरा धर्म हिंदू धर्म है, जो मेरे लिए मानवता का धर्म है।"[68] यही कारण है कि वह हिंदू धर्म के नाम पर प्रचलित छुआ-छूत या अस्पृश्यता की विनाशक और क्रूर प्रथा को अस्वीकार करते थे। इसे वह हिंदू धर्म का कलंक मानते थे।[69] उनका स्पष्ट विचार था कि जब सारी सृष्टि का नियंता ईश्वर ही है, वह सब में अनुस्यूत सत् है, तो फिर यहां ऊंच-नीच, छूत-अछूत का भेद होना ही नहीं चाहिए।[70] और यदि ऐसा होता है तो वह सत्य रूप परमेश्वर की अवज्ञा करना है। उन्होंने कहा "अस्पृश्यता-छुआछूत हिंदू धर्म का अंग नहीं है, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, बहम है, पाप है, एक ऐसा अभिशाप है, जिसका निवारण करना प्रत्येक हिंदू का पवित्र कर्तव्य है। इसके लिए उन्हें अछूतों से भाईचारा रखना चाहिए।"[71] उन्होंने अछूतोद्धार के लिए अथक परिश्रम किया। उन्हें 'हरिजन' नाम से विभूषित कर गौरवान्वित किया और उन्होंने हरिजन सेवक संघ नाम की एक संस्था भी स्थापित की, जिसका कार्य हरिजनों की समस्त कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रयत्न करना था। उनके अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप असंख्य लोगों तक अस्पृश्यता निवारण का संदेश पहुंचा, देश में अभूतपूर्व जागृति का आगमन हुआ, सैंकड़ों मंदिरों के द्वार हरिजनों के लिए खुल गए और उनकी दुर्दशा की ओर सरकार तथा जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। इस प्रकार हिंदू धर्म के कलंक रूप इस प्रथा का उन्मूलन कर गांधी ने मानवता की खोई हुई अमूल्य निधि को वापस लाने में अपनी सारी शक्ति न्योछावर कर दी।

सर्व-धर्म-समभाव

गांधी के सहिष्णुता नाम से परिचित व्रत का ही नवीन नाम सर्व-धर्म-समभाव है। उनका विश्वास था कि सभी धर्म एक ही स्थान पर ले जाने वाले भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। वस्तुतः जितने मनुष्य हैं, उतने ही धर्म हैं।[72] ये सभी धर्म ईश्वर-दत्त हैं, किन्तु मनुष्य द्वारा कल्पित होने के कारण, उन्हीं के द्वारा प्रचारित होने के कारण, वे अपूर्ण हैं इसलिए गांधी का कहना था कि सब धर्मों के प्रति समभाव रखना आवश्यक है। 1947, अप्रैल 5 को प्रार्थना प्रवचन में उन्होंने कहा "जैसे अनेक नाम होने पर भी ईश्वर एक ही

68. *कॉन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलीसफी*, सं० राधाकृष्णन् एवं म्यूरहेड, लंदन, जार्ज ऐलेन अनविन लि०, 1936, पृ० 2 से उद्धृत।
69. *गांधीजी सर्वोदय*, सं० भारतन कुमारप्पा अहमदाबाद : नवजीवन प्रकाशन मंदिर, 1963, पृ० 169 और भी देखिए- कृपलानी ज० भ०, *महात्मा गांधी जीवन और चिंतन*, पृ० 414
70. *हरिजन*, 30 जनवरी, 1937
71. *गांधी साहित्य* - 51, धर्मनीति, पृ० 112
72. *गांधीजी, सत्य ही ईश्वर है*, पृ० 57

है, वैसे ही अनेक नाम होते हुए भी धर्म एक ही है, क्योंकि सारे धर्म ईश्वर से आए हैं। अगर वे ईश्वर से नहीं आए हैं तो वे निकम्मे हैं।" सब धर्मों के प्रति समभाव को वे हमारे दिव्य चक्षु खोलने के साधन रूप में स्वीकार करते थे इसीलिए वे सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। यही नहीं बल्कि सब धर्मों की शिक्षाओं को भी स्वीकार करते थे क्योंकि इन शिक्षाओं का मुख्य ध्येय दैनंदिन कार्य में मनुष्य का मार्गदर्शन करना ही है, जिससे कि वह जो कुछ करे, नैतिकता के मूल सिद्धांतों के अनुरूप ही हो। वस्तुतः नैतिकता के सिद्धांत तो सभी धर्मों में समान ही होते हैं, यही कारण है कि गांधी सभी धर्मों को सच्चा मानकर उनके प्रति आदर का भाव रखते थे। उन्होंने कहा था "हिंदू धर्म में ईसा, मुहम्मद, जरथुस्त्र और मूसा सबके लिए समान स्थान है। मेरे लिए ये एक ही बाग के सुंदर पुष्प हैं... इसलिए वे समान रूप से सत्य हैं, यद्यपि उनकी प्रेरणा ग्रहण करने वाले और उनका अर्थ लगाने वाले मनुष्य हैं; इसलिए वे समान रूप में अपूर्ण भी है।"[73]

गांधी अपने इस व्रत द्वारा आत्मिक एकता के आधार पर भारत में ही नहीं, अपितु समूचे संसार में मानवीय अखंडता का एहसास दिलाना चाहते थे। सांप्रदायिक एकता पर दिया गया बल तथा उसके लिए उनके द्वारा समय-समय पर किया गया 'उपवास'[74] इसका अनूठा प्रमाण है। जीवन के अंतिम दिनों में उनके प्रार्थना-प्रवचन का मुख्य विषय सांप्रदायिक एकता पर बल देना था। 12 अप्रैल, 1947 को प्रार्थना-प्रवचन में बड़े सुंदर ढंग से हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा : "कल की 13 अप्रैल की तारीख हिन्दुस्तान के कत्ल की तारीख है। उस दिन हिंदू-मुस्लिम-सिख सभी एक साथ जलियांवाला बाग में कत्ल हुए।... उस जगह हिंदू-मुस्लिम-सिख सबके खून आपस में मिल गये।... शीशी में भर कर अगर किसी का खून भेजा जाए तो बड़े-बड़े डाक्टर भी उसे जांच कर नहीं बता सकते कि वह खून हिंदू का है, सिख का है या मुसलमान का।" गांधी बराबर कहा करते थे कि हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी-सभी का भेद अयथार्थ है; वस्तुतः सब एक हैं। अस्तु, इस बात को, आत्मिक स्तर पर सभी को स्वीकार करते हुए व्यवहार करना चाहिए। 30 मई, 1947 के प्रार्थना-प्रवचन में उन्होंने कहा "हिंदू मैं जन्म से अवश्य हूं; कोई मेरा हिंदुत्व मिटा नहीं सकता। मैं मुसलमान भी हूं क्योंकि मैं अच्छा हिंदू हूं और इसी तरह पारसी और ईसाई भी हूं। सब धर्मों की जड़ में एक ही ईश्वर का नाम है। सबके धर्मशास्त्र एक सी बात करते हैं।" गांधी प्रार्थना सभाओं में भगवद्गीता के श्लोक के साथ अरबी

73. *हरिजन*, 30 जनवरी, 1937

74. 1942 में गांधी का पहला उपवास तथा 1948 का उनका अंतिम उपवास हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए ही किया गया था।

भाषा में कुरान से एक कलमा 'ओज अबिल्ला" तथा "भज मन प्यारे सीताराम की जगह" भज मन प्यारे राम-रहीम कृष्ण करीम" तथा अन्य धर्मों के मूल मंत्रों का भी जाप कराते थे। यह उनके सर्व-धर्म-समभाव का ज्वलंत प्रमाण है।

निष्कर्षतः ये सभी 'व्रत' सामयिक महत्व के तो थे ही, इनका शाश्वत महत्व भी है। स्वदेशी उनके महाव्रतों में इसलिए महत्वपूर्ण है कि देशवासियों में यदि स्वदेश के प्रति आस्था नहीं है, तो उनका देश एक जागरूक राष्ट्र के रूप में अपने को कभी भी स्थापित नहीं कर सकता और न उसकी प्रगति ही हो सकती है। अस्पृश्यता निवारण द्वारा उन्होंने दलितों को समाज में स्थान देने के लिए अथक प्रयास किया। उनकी दृष्टि में वे भी मनुष्य हैं, उनमें भी ईश्वर का वास है और इसलिए उनका शोषण और तिरस्कार किसी भी हालत में उचित नहीं हो सकता। इसके साथ ही सर्व-धर्म-समभाव का सामयिक महत्व तो था ही क्योंकि तत्कालीन धर्म-वैमनस्य राष्ट्र के लिए घातक था। पर आज भी उसका शाश्वत महत्व है। आज के परिवेश में भी हम उस भाव का महत्ता से इंकार नहीं कर सकते क्योंकि आज भी धर्म के नाम पर जो शक्तियां अपना तांडव कर रही हैं, उनसे भारतवर्ष की स्वतंत्रता को खतरा उत्पन्न हो सकता है।

इस प्रकार यद्यपि उपर्युक्त सभी व्रत महत्वपूर्ण हैं, किंतु इनमें अंतिम व्रत का सर्वाधिक महत्व है, क्योंकि इसके सहारे गांधी मानवता की पराकाष्ठा विश्वबंधुत्व की कल्पना साकार करने की योजना तक जा पहुंचे। अपने इन आश्रम-व्रतों के माध्यम से गांधी ने जिस जीवन की स्थापना का स्वप्न देखा वह ऐसा राज्य था जहां सभी को समान रूप से प्रगति का अवसर मिले तथा जिसके अंतर्गत शोषित मानव अपने वास्तविक अधिकारों को प्राप्त कर अमन-चैन से जी सके। गांधी मानव जीवन की समग्रता को स्वीकार करते थे, उनकी मान्यता के अनुसार उसे धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, व्यक्तिगत और सामूहिक इस तरह के एकदम अलग-अलग खंडों में नहीं विभक्त किया जा सकता। एक दूसरे पर इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है।[76] अतः जीवन यदि एक ओर अखंड है तो उसका संचालन करने वाले मूल्य भी समन्वित व सुसंबद्ध होने चाहिए। गांधी का अपना जीवन कुछ निश्चित मूलभूत सिद्धांतों पर ही आधारित होने के कारण समन्वयपूर्ण एवं सुव्यवस्थित था। उनकी मानवतावादी शिक्षाओं और सुधार योजनाओं में भी वैसी ही सुसंगति और समन्वयनता

75. विस्तृत जानकारी के लिए देखिए - *गांधी साहित्य* 1 और 2 *प्रार्थना-प्रवचन*, पहला खंड एवं दूसरा खंड, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, 1948 तथा 1954, इन प्रवचनों में गांधी के हृदय के उद्गार संचित हैं। इसमें उन्होंने मानवता की सुरक्षा तथा कल्याण के निमित्त अपनी हार्दिक वेदना व सुझाव सर्व-साधारण के समक्ष खोल कर रख दिए।

76. *यंग इंडिया*, 2 मार्च, 1922

की झलक मिलती है। वे सदैव ही भौतिक और आध्यात्मिक, व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के समन्वय के लिए प्रयत्नशील रहे। उनका दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक और आर्थिक विषमता को दूर करके ही मनुष्य को मनुष्यता से विभूषित किया जा सकता है। किंतु आत्मोन्नति के बिना यह संभव नहीं है। अतः उसके लिए सभी को ऊपर उठाकर, जाति-पाति और संप्रदायों को तोड़ना होगा और तभी हम सत्य व अहिंसा को उसके वास्तविक अर्थ में प्रतिष्ठित कर सकेंगे।

इस प्रकार गांधी ने भारत की संस्कृति के अनुरूप एक आदर्श समाज को प्रस्तुत किया जिसमें सभी का सभी के प्रति आदर भाव होगा और प्रत्येक का व्यवहार इस प्रकार होगा कि उससे सभी के सम्मान की रक्षा होगी। अस्तु, गांधी ने न केवल अपने जीवन के माध्यम से एक आदर्श मनुष्य के रूप को मूर्तिमान किया अपितु सभी के प्रेरणा स्रोत बनकर उन्होंने एक आदर्श जीवनशैली प्रसारित की, जो युग की आवश्यकताओं के अनुरूप थी।

गांधी के मूल विचार सर्वथा अभूतपूर्व एवं क्रांतिकारी थे। वे उनकी सर्जनात्मक मस्तिष्क की देन थी, जिसके सुधार करने के मार्ग में उस समय की परिस्थितियां और कठिनाइयां एक चुनौती थीं। उन्होंने समय-समय पर मानवीय समस्याओं का अपने ढंग से समाधान किया और इन सभी में मनुष्य की आंतरिक गरिमा को बनाये रखा। उनके अनुसार जीवन का अर्थ विकास है और विकास का विषय मुख्य रूप से मनुष्य है। मनुष्य अथवा व्यक्ति समाज में रह कर कार्य करता है और उसी के माध्यम से सोचता है। अपनी अनोखी अंर्तदृष्टि के तहत गांधी ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपना कर, व्यक्ति और समाज को नये सांचे में ढालकर उनका नव-निर्माण करना चाहा। इसके लिए उन्होंने सृजनात्मक या रचनात्मक कार्यक्रम का प्रचार कर शोषित मानवता को उबारने का सफल प्रयास किया।

उनके रचनात्मक कार्यक्रम को समाज सुधार का ही कार्यक्रम कहा जा सकता है। गांधी के अनुसार रचनात्मक कार्यक्रम हमारे स्वतंत्रता-संग्राम का एक अपरिहार्य अंग था। उन्होंने भारत की परतंत्रता के लिए मात्र ब्रिटेन की साम्राज्यलिप्सा को ही उत्तरदायी नहीं ठहराया बल्कि उनके अनुसार उसका दायित्व तो मुख्यतः राष्ट्र व मानव धर्म के प्रति हमारी उपेक्षा पर ही निर्भर था। अतः रचनात्मक कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य मानव को उसके कर्तव्य के प्रति जागरूक करना था, जिससे मनुष्य स्वतः समुन्नत व शक्तिशाली बनकर इतने बड़े साम्राज्य से लोहा ले सके और एक स्वतंत्र व समुन्नत राष्ट्र का निर्माण कर सके। खादी और चर्खा पर उनका जोर, बुनियादी शिक्षा स्त्री-पुनरुद्धार पर उनका इतना जोर देना इस बात का महत्वपूर्ण साक्ष्य है कि गांधी अन्ततः राष्ट्रोद्धार की दृष्टि से मनुष्य में स्वाभिमान व निर्भयता का होना महत्वपूर्ण मानते थे और बुनियादी शिक्षा पर जो उनका बल था, वह इस नाते था कि वे राष्ट्र की जड़ों को उसकी अपनी संस्कृति से मजबूत बनाना चाहते थे। अपनी संस्कृति में आस्था

और उसके अनुरूप जीवन शैली का निर्माण ही किसी भी राष्ट्र को शक्तिशाली बना सकता है। देखने में ये छोटी-छोटी बातें हो सकती हैं पर इन्हीं पर किसी राष्ट्र के भावी रूप का सपना साकार हो सकता है।

स्पष्ट है, गांधी का रचनात्मक कार्यक्रम उनकी अतिशय मानववादी दृष्टि को साकार रूप देता है, जिनमें दो रूप - विश्वबंधुत्व और सर्वोदय अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। वस्तुतः इन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

विश्वबंधुत्व

गांधी लिंग, वर्ण, जाति के भेद भावों के बावजूद सारे मानव-समाज को एक परिवार ही मानते थे। घर्म, जाति, संप्रदाय और राष्ट्र द्वारा मनुष्य मनुष्य के बीच पैदा किये गये कृत्रिम भेदों को वह नहीं मानते थे। सत्य, अहिंसा व प्रेम उनका मूल मंत्र था, जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के समूह द्वारा समूह के शोषण के विरुद्ध था। उनका विश्वास था कि जिस क्षण हम मनुष्य के बीच सच्ची और सजीव समानता फिर से स्थापित कर लेंगे, उसी क्षण हम मनुष्य और सारी सृष्टि के बीच समानता स्थापित कर सकेंगे। जब वह दिन आएगा तब संसार में शांति और मनुष्यों में सद्भावना का राज्य फैल जाएगा।[77] गांधी कट्टर राष्ट्रवादी थे परन्तु उनके राष्ट्रवाद और मानव प्रेम के बीच कोई विरोध नहीं था। उन्हें विश्व शांति की उत्कट अभिलाषा थी, इसलिए उनकी राष्ट्रीयता में एक प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण निहित था। उन्होंने कहा था 'मैं सारे विश्व के दृष्टिकोण से सोचना चाहता हूं। मेरे देश-प्रेम में साधारण रूप से सारी मानव-जाति की सेवा शामिल है।'[78] गांधी मनुष्य मात्र की मौलिक एकता में विश्वास करते थे। उनकी आत्मा किसी संकीर्ण धार्मिक या राष्ट्रीय बंधन से बंधी नहीं थी। इसलिए वह विश्वबंधुत्व की भावना से ओतप्रोत, विश्व नागरिक बन गये थे। एक बार उच्च पदस्थ अंग्रेज ने गांधी जी से कहा कि एक भारतीय होने के नाते आप स्वभावतः अपने देशवासियों से विदेशियों की अपेक्षा अधिक प्रेम करते होंगे? गांधी ने यह जवाब देकर उन्हें चकित कर दिया था कि 'अपने देश के लोगों और दूसरे देशों के लोगों में मैं कतई कोई भेद नहीं करता। अगर मैं अपने देशवासियों की सेवा करता हूं तो उसका कारण यही है कि मेरे लिए ऐसा करना आसान है। परंतु मेरी सेवा का उद्देश्य उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करना ही है, जिससे की मानव जाति की सेवा में वे मेरी मदद कर सकें।'[79] गांधी वस्तुतः किसी को विदेशी या पराया तथा संसार के किसी भी भाग को जहां वे रहते थे, पराया घर मानते ही नहीं थे। इसका कारण, समस्त मानव जाति के प्रति उनका प्रेम तथा

77. *हरिजन*, 28 मार्च, 1936
78. *राष्ट्रीयता*, पृ० 36 से उद्धृत।
79. *महात्मा गांधी - जीवन और चिंतन* - पृ० 463 से उद्धृत।

बंधुत्व का भाव ही था। उन्होंने अपनी आध्यात्मिक विचारधारा के कारण राष्ट्रवाद तथा विश्वमानववाद का समन्वय कर विश्वबंधुत्व का सपना साकार करना चाहा था। उन्होंने यहां तक स्वीकार किया था कि विश्व हित के लिए आवश्यकता पड़ने पर भारत का बलिदान भी कोई बड़ी बात नहीं। देश की संकटकालीन स्थितियों में विभिन्न समयों पर उनके द्वारा किए गए उपवास मानव प्रेम का अनूठा उदाहरण हैं। अपने जीवन का अंतिम उपवास भी उन्होंने मानव एकता तथा बंधुत्व की भावना का बोध कराने के लिए 13 जनवरी, 1948 से 18 जनवरी, 1948 तक किया। उपवास तोड़ने के पश्चात् 19 जनवरी, 1948 की प्रार्थना-सभा में उन्होंने कहा, "आप लोगों के बीच मुझे जिंदा रखने की शर्त यह है कि हिंदुस्तान की सब कौमें शांति से साथ-साथ रहें और वह शांति तलवार के जोर से नहीं, बल्कि मुहब्बत के जोर से हो। मुहब्बत से बढ़कर जोड़ने वाली चीज दुनिया में दूसरी कोई नहीं है।"[80] उनके उपवास पर लुई फिशर की यह टिप्पणी कितनी सुंदर है, "विश्व-व्यापी समस्या का यह आंशिक हल उस व्यक्ति के नैतिक बल की यादगार के रूप में है, जिसकी सेवा करने की इच्छा प्राणों की ममता से कहीं अधिक थी। गांधी जी जीवन से प्रेम करते थे और जीवित रहना चाहते थे। लेकिन मरने के लिए उद्धत रहने से उन्हें सेवा की शक्ति प्राप्त हुई और उसी में आनंद था।"[81] गांधी अपने सेवा भाव के द्वारा समूचे संसार के दुःख-दारिद्रय, संताप एवं वैमनस्य को हर लेना चाहते थे। उनकी आकांक्षा हर आंख से आंसू पोछ डालने की थी। मानववाद का इससे उत्कृष्ट रूप और क्या हो सकता है।

सर्वोदय

जो दूसरा स्वर गांधी में उभरा और जिसने उनके विश्वबंधुत्व के सपने को रूप प्रदान किया वह था सर्वोदय। इसकी प्रेरणा 'रस्किन' की पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से मिली। वस्तुतः यह पुस्तक उनके अंतराल में बसी हुई गुप्त भावनाओं का स्पष्ट प्रतिबिंब सिद्ध हुई, फलस्वरूप इसने गांधी पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया। सर्वोदय को पं० जवाहर लाल नेहरू ने 'शांतिपूर्ण साधनों से प्राप्त विकेंद्रित जनतंत्रात्मक समाजवाद' कहा जो कि गांधी के 'रामराज्य' का पर्याय हुआ। इसमें निरपवाद रूप से राजा और रंक, ऊंच-नीच, काले-गोरे, पापी-संत और छूत-अछूत सबके लिए शोषण का पूर्णतः अभाव होगा- न कोई शोषक रहेगा न शोषित्। इस समाज व्यवस्था में सभी बराबर के सदस्य होंगे, सभी का उनके श्रम की पैदावार पर अधिकार होगा। प्रत्येक सदस्य सभी के कल्याण व उत्थान के निमित्त कार्यरत होगा। बलवान् दुर्बलों की रक्षा करेंगे और उनके ट्रस्टी का काम करेंगे। सर्वोदय में प्रत्येक के लिए आत्म-समर्पण व

80. *प्रार्थना-प्रवचन*, द्वितीय खंड, पृ० 323

81. *गांधी की कहानी*, पृ० 256

बलिदान साधारण व स्वाभाविक है। गांधी ने एक स्थान पर कहा है, व्यक्ति को कुटुंब के लिए, कुटुंब को गांव के लिए, गांव को प्रांत के लिए और प्रांत को देश के लिए बलि हो जाना जाहिए। इसी तरह विश्व हित में आवश्यक होने पर अपने बलिदान के लिए देश को स्वतंत्र होना चाहिए।[82] सर्वोदय की सिद्धि के लिए वस्तुतः संयम और सहनशीलता मुख्य शर्त है। ईश्वर सत्य और अहिंसा में अटूट विश्वास के कारण गांधी के सर्वोदय का आधार और उसकी सिद्धि के साधन दोनों ही आध्यात्मिक हैं। गांधी ने साध्य के साथ-साथ साधन के औचित्य पर विशेष बल दिया है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। फलतः सर्वोदय के लिए कार्य पद्धित के रूप में उन्होंने सत्य और अहिंसा पर अटल रहने की पद्धति-सत्याग्रह का वरण किया। गांधी का दृढ़ विश्वास था कि यदि हम सत्य के प्रति आग्रह रख कर अपने भीतर संपूर्ण साहस को संजो सकें तो अनाचारी के भीतर छिपा हुआ मनुष्यत्व हमारी अपील का विरोध नहीं कर सकता। अस्तु, सत्याग्रह से ही दलित मानवता का विकास संभव है, दुराग्रह से कदापि नहीं। सत्याग्रह किसी भी अनाचार, अत्याचार के विरोध में हो सकता है, चाहे वह व्यक्ति द्वारा हो या सरकार द्वारा हो। इस प्रकार उन्होंने सत्याग्रह के माध्यम से मानवीय मुक्ति का जो मार्ग दर्शन किया उसने अपनी विलक्षण सफलता से संसार को चकित कर दिया।

गांधी का दृष्टिकोण मूलतः वास्तववादी और व्यावहारिक था। उन्होंने दैनंदिन समक्ष आने वाली समस्याओं को सर्वोदय के दृष्टिकोण से हल करने का प्रयास किया। उदाहरणार्थ वे समस्याएं उद्योगवाद, पूंजी और श्रम, जमींदार और किसान आदि की थीं। इसके लिए उन्होंने ग्रामोद्योग को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। चरखा इन उद्योगों का प्रतीक था, जिसका गांधी के आर्थिक कार्यक्रम में प्रथम स्थान था। जमींदारों के शोषण और गुलामी के शिकार बने हुए भूमिहीन किसानों के उत्थान के लिए गांधी के घनिष्ठ मित्र तथा शिष्य श्री विनोबा भावे ने भूस्वामियों की उदात्त भावनाओं को अपील करके भूदान प्राप्त किया। इस प्रकार उनके महान् व पावन भूदान आंदोलन का प्रारंभ हुआ। इसके ऊपर प्रकाश डालते हुए भारतन कुमारप्पा 'सर्वोदय' के संपादकीय में लिखते हैं, "यह एक ऐसी रक्तहीन क्रांति है, जिसकी संसार के इतिहास में कोई मिसाल नहीं है। इस अहिंसक क्रांति के जरिए शोषक की हत्या करने, उसकी संगठन शक्ति और व्यवस्था शक्ति से अपने को वंचित करने के बदले उसका हृदय परिवर्तन करके और उसकी योग्यता का समाज के कल्याण के लिए उपयोग करके सर्वोदय की दिशा में कदम उठाया जाता है।[83] गांधी ने गांवों की परंपरागत सभ्यता को जीवित रखने के लिए अथक परिश्रम किया क्योंकि यह सभ्यता ऐसे लोगों की जीवित एकता की प्रतीक थी, जो सहज एकता के सूत्र में बंधे थे।

82. *महात्मा गांधी, जीवन और चिंतन*, पृ० 463 से उद्धृत।

83. *सर्वोदय*, पृ० 6-7

मानवता के लिए अदम्य प्रेम और संपूर्ण जीवन की अखंडता को स्वीकार करने के कारण ही उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया जिससे कि वे असंख्य दुःखी व संत्रस्त देशवासियों को कठोर दासता के बंधन से मुक्त कर सके। फलस्वरूप पीड़ित जन उत्तम जीवन प्राप्त कर सकें- उनका गुणात्मक स्तर ऊंचा हो सके इसलिए राजनीतिक कार्य भी उनके लिए नर-रूप नारायण की ही सेवा का रूप था, जिसके बिना स्वयं उनकी मुक्ति तथा ईश्वर साक्षात्कार संभव नहीं था। इस तरह गांधी राजनीति को धर्म व आचारशास्त्र का ही एक अंग मानते थे। उन्होंने कहा थाः "ईश्वर साक्षात्कार के लिए मैं अपना बड़े से बड़ा बलिदान भी दे सकता हूं। मेरी सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक और सेवा संबंधी सभी प्रवृत्तियां उसी एक लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। मुझे यह अनुभूति हो चुकी है कि भगवान् दुःखियों के बीच में ही रहते हैं, इसलिए शोषित और समस्त व्यक्तियों के लिए मेरे हृदय में इतनी करुणा है। चूंकि मैं राजनीति में हिस्सा लिए बिना इस प्रकार की सेवा नहीं कर सकता इसलिए मैं उनके लिए इस राजनीति में हूं। इस तरह राजनीति के माध्यम से मैं दुःखी भारत के लिए और उनके द्वारा विश्वमानवता के लिए संघर्षरत हूं।"[84] देशवासियों के प्रति यही स्नेह और उनकी अतिशय निरीहता के प्रति करुणा गांधी के जीवन का मूल स्वर था।

गांधी का यह स्वर उस समय का सामयिक स्वर था। प्रत्येक सुसंस्कृत मानव हृदय में इन्हीं भावों की गूंज उठती थी और विभिन्न संदर्भों में व्यक्त होती थी। दलितों और शोषितों के प्रति हृदय की करुणा सहज ही विवेकानंद, गांधी, टैगोर सभी में व्यक्त हुई है। टैगोर ने 13 अप्रैल, 1919 को जलियांवाला बाग में हुए नृशंस-नर-संहार से द्रवित होकर सम्राट् द्वारा प्रदत्त 'सर' की उपाधि को लौटाते हुए 29 मई, 1919 को वाइसराय को पत्र में लिखा था : "अब वह समय आ गया है जब सम्मान के बिल्ले, अपमान और दमन के बेतुके संदर्भ में हमारी लज्जा को और उजागर करते हैं। जहां तक मेरा संबंध है, मैं सभी विशिष्ट प्रतिष्ठा-चिह्नों का त्याग अपने उन देशवासियों की कतार में खड़ा होना चाहता हूं जिन्हें अपनी तथाकथित नगण्यता के कारण अमानवीय तिरस्कार भोगना पड़ता है।"

गांधी जीवनपर्यंत इसी संसार में जन-जीवन की सेवा के माध्यम से सत्साक्षात्कार का पावन प्रयत्न करते रहे। उनके दर्शन के पूर्णावलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर कृपा का अटूट संबल धारण किए हुए उनका दृष्टिकोण मूलतः विशुद्ध मानववादी एवं व्यावहारिक था। वे मानव जीवन और उसकी सुख-शांति के अभिलाषी थे। उनके इसी दृष्टिकोण ने उन्हें जन-साधारण का प्रिय बना दिया। उन्होंने अपना समूचा जीवन सत्य की दुहाई देते हुए मानवता की सेवा में उत्सर्ग कर दिया। उनकी

84. *यंग इंडिया* 11 सितम्बर, 1924

इस प्रतिभा से प्रभावित हेनरी एस० एल० पोलक ने उन्हें 'मानवता का पुजारी'[85] विशेषण से विभूषित किया तथा सी० बी० रमन् ने उन्हें 'एक महान् मानवतावादी' घोषित करते हुए कहा : "इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधी जी के उत्सर्ग पर संसार के हर कोने से जो स्वैच्छित श्रद्घाजलियां उन्हें अर्पित की गईं, वे वास्तव में महात्मा गांधी के अपने मूलभूत मानववाद की स्वीकारोक्ति है, जिसने देश, विचार और जाति की सीमाओं को लांघ दिया था।"[86]

गांधी का जीवनचरित्र इस अंधकाराच्छादित युग में प्रकाश के सर्वोच्च स्तंभ के समान है। सत्य और अहिंसा के माध्यम से उन्होंने जो कुछ किया वह आज कालांतर में चमत्कार-सा प्रतीत होता है। उन्होंने कर्म की महिमा को अत्यधिक महत्व देकर मनुष्य जीवन को एक नवीन कर्ममयी दीक्षा में ढाला और कर्तव्य पालन को ईश्वरीय उपासना के समान प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार कर्मनिष्ठ गांधी ने दलित, शोषित भारतीयों को नवीन मेरुदंड दे करके स्वार्थहीन लोकोपकारी कर्म के महाव्रत में दीक्षित किया। वस्तुतः गांधी मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य थे, इसलिए देव बनाकर उन्हें अपने से दूर करने की अपेक्षा सदाचरण द्वारा स्वतः अपने को गांधी बनाने में ही मानवता का हित निहित है।

85. *गांधी व्यक्तित्व विचार और चिंतन*, पृ० 25
86. वहीं, पृ० 106

अध्याय - 5

मानवेंद्रनाथ राय (1887-1954)

दार्शनिक दृष्टि

वस्तुतः दर्शन की भाषा में मानवेंद्रनाथ राय दार्शनिक की श्रेणी में नहीं आते। शुद्ध रूप से ये मानववादी परंपरा में आते हैं क्योंकि इनकी मूल रुचि एक ऐसी दृष्टि के प्रसारण में थी, जिससे जीवन का उत्कर्ष हो सके। अस्तु, जीवन को तत्वतः जानने में नहीं अपितु उसे उत्कर्ष के पथ में ले चलने के लिए वे कृत संकल्प दिखाई देते हैं। अपनी इसी दृष्टि को उन्होंने स्वयं नव्यमानववाद की संज्ञा दी है।

मानवेंद्रनाथ राय भारत की आध्यात्मिक परंपरा को स्वीकार नहीं करते। वे भौतिकवादी परंपरा के समर्थक हैं। इसलिए उन्होने मानववाद को भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया है। राय भारत के लोकायत चिंतन को पुनर्जीवित करने का प्रयास करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि भौतिकवादी वैज्ञानिक दृष्टि ही सही अर्थों में मानववादी विचारधारा का आधार हो सकती है। वे यह मानते हैं। कि अध्यात्मवादी मानववाद मनुष्य की गरिमा और मुक्ति का दर्शन नहीं हो सकता है। उनके अनुसार मार्क्सवादी चिंतन ही सही अर्थों में मानववादी चिंतन है। लेकिन मार्क्सवाद से उन्नका अभिप्राय मार्क्सवाद के आधिकारिक रूप से नहीं है। उनके मत में मार्क्सवाद मूल मानवीय चिंतन है। अस्तु, उसी को उसके वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित करके ही हम मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं और उसकी आकांक्षाओं के साथ न्याय कर सकते हैं। राय अपने मानववाद को 'नव्यमानववाद' इसलिए कहते हैं क्योंकि मानववादी चिंतन जो कि आदिम मानवीय चिंतन है, परन्तु जिसकी परंपरा धर्म तथा मानव जगत् से परे ईश्वर आदि पर आधारित रही है तथा जो नैतिक, व्यावहारिक तथा न्याय संबंधी नियमों से ही संबंध रही है, को वे परीक्षण उपरांत नवीन धरातल पर स्थापित करना चाहते हैं। यह सही है कि यह दृष्टि उन्हें

पश्चिम की 'ह्यूमेनिस्ट ट्रैडीशन डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट्स, सोशल-डेमाक्रेट्स और वैज्ञानिक बुद्धिवाद' की परंपरा से प्राप्त हुई है।[1]

अतएव राय को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना होगा कि दर्शन से उनका क्या अभिप्राय है तथा वह कौन-सी दार्शनिक विचारधारा है जिस पर उनका मानववाद आधारित है।

राय मार्क्स की इस बात का समर्थन करते हैं कि अब तक दार्शनिकों ने केवल जगत् की विभिन्न विधियों से व्याख्या की है, किन्तु वास्तविक समस्या उसे बदलने की है।[2] राय उन सिद्धांतों की मीमांसा में शक्ति एवं समय नष्ट करने के विरोधी हैं, जो प्रतिदिन के कार्यों एवं निर्णयों से मतलब नहीं रखते यानी उसे प्रभावित नहीं करते। राय पैनी सहज बुद्धि वाले व्यक्ति थे। उनके अनुसार जिन सिद्धांतों को स्वयं उनके प्रतिपादक भी अपने दैनिक जीवन में निभा नहीं पाते, और जो हमारी प्रतिदिन की क्रियाओं से असिद्ध होते हैं, उन पर चिंतन करना समय और शक्ति का अपव्यय मात्र है। ये सिद्धांत सम्यक् व्यवहार को निर्देशित करने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। राय दर्शन को वैज्ञानिक विधि तथा चिंतन प्रणाली से अर्जित ज्ञान पर आधारित मानते हैं, इसलिए विज्ञान द्वारा सिद्ध तथ्यों की अवहेलना करने वाले सिद्धांत उनके लिए अविवेकपूर्ण एवं त्याज्य हैं। उनके अनुसार वैज्ञानिक विधि ही ज्ञान प्राप्त करने की एकमात्र विवेक सम्मत विधि है। सामान्य प्रत्यय या विचार और वैज्ञानिक नियम मानव मन की कल्पना मात्र नहीं है, वे सत् के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। प्रकृति नियमानुवर्तिनी है, अस्तु, विश्व की सभी वस्तुएं प्रकृति में व्याप्त नियमों से आवश्यक रूप से नियंत्रित हैं। स्वयं मानव मस्तिष्क भी प्रकृति की ही उपज है। वह किसी निरपेक्ष, अज्ञेय व अभौतिक तत्व की देन नहीं है। अतः प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्राप्त करने में पूर्णतः अक्षम है।[3]

भौतिक वस्तुवाद

नव्यमानववाद क्योंकि समाज को रूपांतरित करने की बात करता है, अतः यह आवश्यक है कि वह किसी व्यापक जीवन दृष्टि पर आधारित हो। राय को यह

1. "Drawing inspiration from the Humanist tradition, the democratic socialists or social democrats visualised social organisation as a harmony of voluntary individual efforts", Roy M.N., *New Humanism-A Manifesto*, Delhi: Ajanta Publication, 1981, p. 7.
2. "Philosophers have interpreted the world in various ways, but the real task is to transform it", quoted in Roy, M.N. *Materialism*, Delhi: Ajanta Publication, 1982, p. 233.
3. मैटीरियलिज़्म - पृ० 242 और भी देखिए - राय, एम० एन०, *रीजन रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन*, खण्ड I, कलकत्ता : रेनांसां पब्लिशर्स लिमिटेड, 1952, अध्याय 2.

आधारशिला भौतिकवाद देता है।[4] भौतिकवादी दर्शन संसार की समस्त वस्तुओं को भौतिक द्रव्य से उद्‌भूत मानता है। प्रायः भौतिकवाद को "खाओ, पीओ और मस्त रहो" का दर्शन माना जाता है। किन्तु यह इस दर्शन की मिथ्या एवं भ्रामक व्याख्या है। वस्तुतः यह इस प्रकार का अशिष्ट दर्शन नहीं है। भौतिकवादी दर्शन संसार की व्याख्या के लिए किसी अतिभौतिक सत्ता की कल्पना नहीं करता। वह तो एकतत्ववादी दृष्टि को स्वीकार करता है और संसार की सभी वस्तुओं-शरीर, मन, आत्मा का आधार जड़ द्रव्य-यानी एक भौतिक सत्ता को मानता है जो ज्ञात है और अपने संपूर्ण रूप में ज्ञेय है। इस प्रकार यह सत्ता विचार, वस्तुओं, प्रत्ययों, जड़ और चेतना की पूर्वगामी है।[5]

अस्तु भौतिकवादी दर्शन प्राकृतिक घटनाओं के चिंतन, निरीक्षण तथा खोज के द्वारा उनके वास्तविक रूप का ज्ञान प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार सभी अस्तित्ववान् वस्तुओं का मूल स्रोत भौतिक द्रव्य है। संसार की सभी वस्तुएं भौतिक द्रव्य का ही रूपांतरण हैं और ये रूपांतरण प्रकृति में अंतर्भूत नियमों द्वारा आवश्यक रूप से नियंत्रित है।[6] राय यांत्रिक अथवा यंत्रवादी भौतिकवाद को स्वीकार करते हैं किन्तु वे भौतिक द्रव्य (मैटर) का प्रयोग प्राचीन अर्थ में नहीं करते। उनके अनुसार आधुनिक विज्ञान के नवीनतम निष्कर्ष भौतिकवाद त्यागने का परामर्श नहीं देते। राय यह तो स्वीकार करते हैं कि आधुनिक भौतिकी ने पुद्‌गल (मैटर) के स्थूल रूप को अस्वीकार कर दिया है, किन्तु उससे वे यह निष्कर्ष निकालने को बिल्कुल तैयार नहीं हैं कि वह भौतिक तत्व को ही अस्वीकार कर देती है।[7] आधुनिक भौतिकी के अनुसंधान पुद्‌गल की स्थापना नए रूप में करते हैं। किंतु इसका अर्थ भौतिक के स्थान पर अभूर्त, अभौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक तत्व की स्थापना करना है।[8] अस्तु, विश्व का मूल तत्व भौतिक है, न कि आध्यात्मिक। भौतिकवाद के प्रति मिथ्या धारणा को समाप्त

4. राय, एम०एन० *रीजन रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन*, खंड-2, रेनॉसां पब्लिशर्स लि०, 1955, पृ० 308-309.
5. The effects made throughout the ages for such an explanation have established a monistic view of the universe, and revealed the substratum of everything-body, mind, soul-as a material substance, a physical entity, largely known and progressively knowable : Existence precedes thought; things, ideas; matter, spirit. Roy, M.N. *Materialism*, Delhi : Ajanta Publications, 1982, p.184.
6. Materialism, p. 5.
7. "Physics has discarded the old conception of matter, but it has not dissolved the physical universe into nothingness or the fantasy of disembodied minds." *Reason, Romamticism and Revolution*, Vol. II, p. 302.
8. *मैटीरियलिज्म* - पृ० 5, और 184.

करने की दृष्टि से राय अपने दर्शन को भौतिकवाद की अपेक्षा 'भौतिकवस्तुवाद' की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझते हैं।[9] उनकी दृष्टि में भौतिक वस्तुवाद संसार के तत्वों को तर्कना के आधार पर संगतपूर्ण एवं व्यवस्थित करने का एक सशक्त प्रयास है और वह अपने व्यवस्थित ज्ञान द्वारा जीवन को उचित व विश्वसनीय निर्देशन प्रदान करता है। यही कारण है कि राय भौतिकवाद को ही एकमात्र न्याय संगत, संभव दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं।[10]

राय क्योंकि एकतत्ववादी है[11] अतः द्‌वैतवाद उन्हें किसी भी तरह मान्य नहीं, क्योंकि तब दूसरे तत्व के रूप में उन्हें अभौतिक तत्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा और परातत्व की यह स्वीकृति मानव स्वतंत्रता के लिए घातक होगी। वस्तुतः मनुष्य स्वसंचालित और स्वनियंत्रित विश्व का एक अंग होने के कारण ही स्वतंत्र है।[12] इसी के साथ अपने एकतत्ववादी दृष्टिकोण के साथ नाना प्रकार की इकाइयों से युक्त ब्रह्मांड को स्वीकार करने में राय को कोई अड़चन नहीं होती। ज्यों-ज्यों विश्व-प्रक्रिया का विकास होता है त्यों-त्यों उसमें प्रकारांतरों का जन्म होता रहता है, जो विशिष्टताओं और विभेदों को जन्म देता है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया गया है, शरीर, मन, प्राण और चेतना-सभी भौतिक द्रव्य से उद्‌भूत तत्व हैं, विकासवादी प्रक्रिया के परिणाम हैं। इनकी सत्ता की व्यवस्था के लिए किसी पारमार्थिक निरपेक्ष तत्व का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।

राय ने अपने व्यापक भौतिकवादी दर्शन को, जो कि उनके नव्यमानववाद का आधार है, संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया हैः उसकी तत्व मीमांसा भौतिकवादी वस्तुवाद है तथा विश्व प्रक्रिया यंत्रवादी है।[13] राय के अनुसार यह विश्व स्वतः अपने आप में अंतर्निहित नियमों से नियंत्रित है, उसके संचालन के लिए किसी काल्पनिक अदृश्य का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। राय ऐसे किसी भी दर्शन को दर्शन मानने के लिए तैयार नहीं, जो किसी अलौकिक व अदृश्य की कल्पना पर आधारित हो और इस नाते मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक हो। एकमात्र भौतिक सत्ता ही

9. *रीजन, रोमांटिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन*, खंड -2, पृ० 302.
10. "Materialism is vindicated as the only philosophy possible, provided that philosophy is defined as a logical coordination of all the branches of positive knoweldge in a system of thought to explain the world rationally and to serve as a reliable guide for life." *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 302.
11. वहीं, पृ० 305.
12. "Man can be free because he is a part of a world which is self-contained and self-operating". Ibid., p. 306.
13. "Its metaphysics is physical-realist; and its cosmology is mechanistic". *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 309.

मूल एवं प्राथमिक सत्ता है और उस पर आधारित जीवन दृष्टि ही वह सुसंगत सुव्यवस्थित दर्शन है, जिसके तहत मानववादी दृष्टि की सही अर्थों में प्रतिष्ठा की जा सकती है। आरंभ से लेकर प्राण एवं चेतना की उत्पत्ति तक भौतिक तत्व से उद्‌भूत इस विकास प्रक्रिया में कोई अवरोध या गतिभंग नहीं हुआ है: निर्जीव, प्राणवान् एवं मानसिक क्रियाएं भी भौतिक-विकास, प्रक्रिया की ही अवस्थाएं हैं, इन अवस्थाओं में नैरंतर्य है। यह नैरंतर्य वहीं तक सीमित न रहकर सामाजिक एवं नैतिक विकास स्तरों में भी दृष्टिगत होता है।[14] इसके विपरीत अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद ऐसे किसी तत्व को अवश्य स्वीकार करता है जो विश्व-प्रक्रिया से परे अवस्थित है और स्वयं उससे अलग रहते हुए भी उसे निर्देशित व नियंत्रित करता रहता है। यहां तक कि मनुष्य की नैतिकता व स्वतंत्रता भी उस अतींद्रिय तत्व की अनुकंपा के अधीन है अर्थात् मनुष्य उस अतिभौतिक सत्ता-ईश्वर की कृपा का संबल धारण किए बिना नैतिक नहीं हो सकता और ऐसे अतिभौतिक तत्व की प्राप्ति ही अध्यात्मवादियों के जीवन का चरम लक्ष्य होता है। राय कहते हैं कि अध्यात्मवाद भौतिक द्रव्य की अपेक्षा चित् को, अस्तित्व की अपेक्षा विचार को तथा शरीर की अपेक्षा मन को महत्वपूर्ण तथा सत् मानता है।[15] राय के अनुसार वस्तुतः यह धारणा अंध आस्था पर आश्रित है इसलिए नितांत अतार्किक एवं अवैज्ञानिक है।

एम०एन० राय अपने दर्शन को व्यावहारिक अध्यात्मवाद[16] कहते हैं। उनका कथन है कि आम तौर से यदि जीवन किसी आदर्श के लिए समर्पित कर दिया जाता है तो उस भाव को 'आइडियलिज्म' कहते हैं। पर 'आइडियलिस्ट' दर्शन इस प्रकार के भाव और उससे जुड़ी दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। 'व्यावहारिक आइडियलिज्म' का आइडियलिस्ट दर्शन से कोई संबंध नहीं है और न ही यह भौतिकवादियों द्वारा अस्वीकृत ही है। वास्तव में भौतिकवादी दार्शनिक सबसे बड़ा व्यावहारिक अध्यात्मवादी (आइडियलिस्ट) है।[17] उसे ऐसे संसार का पुनर्निर्माण करना है जिसमें मनुष्य स्वतंत्र,

14. राय, एम०एन० : *रीजन रोमांटिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन*, खंड-2, अध्याय-2, रेनॉसाँ पब्लिशर्स लि०, 1952.
15. "Idealism places spirit before matter thought before being, mind before body". *Materialism*, p. 142.
16. "Practical Idealism".
17. Generally, idealism is identical with the virtue of dedicating life to an ideal. The idealist philosophy however, is quite different from what is called "Idealism" in common parlance... The former is derived from the word "idea" whereas the latter from "ideal". The so called "practical idealism" has nothing to do with the idealist philosophy. It is not rejected by the materials. Indeed the philosophical materialist is the greatest practical idealist." *Materialism*, p. 234.

सुखी और जागरूक जीवन यापन कर सके, जिसमें मानव के समक्ष प्रगति की अनंत संभावनाएं विद्यमान हों- क्या इससे भी बड़ा कोई आदर्श हो सकता है? और उसके लिए भौतिकवाद स्वेच्छापूर्वक बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। अपने विचार की संपुष्टि में राय एक प्रश्न करते हैं-किसे हम अधिक आध्यात्मिक या आदर्शवादी कह सकते हैं? विनाशक रोगों का निदान ढूंढ़ने के निमित्त प्रायः अपने जीवन को प्रसन्नतापूर्वक खतरे में डालने वाला नास्तिक वैज्ञानिक अथवा अपनी कीमती आत्मा की रक्षा में लगा हुआ स्वकेंद्रित संकुचित पवित्र संन्यासी तथा धार्मिक अनुभूति में मोक्ष की कामना करने वाला आत्म-संतुष्ट व्यक्ति? कौन अपने आदर्श के प्रति अधिक निष्ठावान् है? मानव स्वातंत्र्य के निमित्त पीड़ा, अभियोग, भूख और मृत्यु का साहसपूर्ण मुकाबला करने वाला क्रान्तिकारी नास्तिक अथवा सुखभोगी बोर्जुआ और उनके चमचे को उत्कृष्ट आदर्शों का कपटपूर्ण नारा लगाते हैं जिनके द्वारा गुलामी दरिद्रता, अनैतिकता और पतन का सामाजिक निकाय और दृढ़ होता है।[18] राय का स्पष्ट उद्‌घोष है कि अंततः वस्तुस्थिति तो यही है कि भौतिकवादी दर्शन ही एक ऐसा निष्ठावान् दर्शन है, जिसे व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए राय कहते हैं कि दर्शन 'अध्यात्मवाद' का विरोधी नहीं है। वस्तुतः यही उसका पूर्ण ईमानदारी व निष्ठा के साथ पालन करता है। जीवन का आदर्श ही भौतिकवादी के जीवन की प्रेरक शक्ति है, वह उसके जीवन से अभिन्न है- आदर्शविहीन जीवन उसके लिए अर्थहीन एवं असंगत है। अन्य शब्दों में उसके अनुसार जीवन आदर्शों के लिए ही है उन्हें जीवन से विलग नहीं किया जा सकता है। ऐसी जीवन दृष्टि उसके लिए स्वाभाविक है, विवशता या मजबूरी नहीं।[19] यही नहीं, उन आदर्शों के अनुरूप जीवन-यापन का प्रयास उनके लिए सुखदायक भी है। इसके विपरीत अध्यात्मवादी स्वभावतः आध्यात्मिक नहीं बल्कि प्रकृति से परे कोई अलौकिक शक्ति जैसे-ईश्वर उन्हें ऐसा करने के लिये बाध्य करती है। अस्तु असली बागडोर तो ईश्वर या इसी से मिलती-जुलती किसी अन्य अलौकिक शक्ति के हाथ में रहती है, जिसके निर्देशन और प्रेरणा से ही मनुष्य नैतिकता के पथ पर अग्रसर होकर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है-मनुष्य में स्वतः नैतिक बनने की कोई सहज प्राकृतिक क्षमता नहीं है। वह ईश्वर के भय ही से नैतिक बनने का स्वांग करता है। यही कारण है कि इस चिंतन प्रणाली का मानव ईमानदार, एवं समर्पित मानव नहीं है।

पुनः राय कहते हैं विविधता में अनुस्यूत एकता की खोज मनुष्य में अति प्राचीन प्रवृत्ति है और यही किसी दर्शन की आधारशिला होनी चाहिए।[20] अतएव अप्रत्यक्ष जगत् को समझने तथा उसकी व्याख्या करने का प्रयास मानव-मन को व्यावहारिक जगत् की

18. *मैटिरियलिज्म*, पृ० 234-235.
19. वहीं, पृ० 235.
20. *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 302.

अनेकता व विविधता का एक सामान्य आधार ढूंढने के लिए प्रेरित करता रहा है। यदि वह आधार भौतिक नहीं है तो उसे मानवीय समझ की परिधि से परे, रहस्यात्मक अर्थ में तत्वमीमांसीय होना चाहिए। अन्य शब्दों में वह मात्र आस्था का विषय होगा। इस प्रकार धर्म ही भौतिकवाद का एकमात्र विकल्प होगा।[21] किंतु आधुनिक विज्ञान और उससे जुड़ा हुआ भौतिकवादी दर्शन इसे अस्वीकार करता है। राय के अनुसार विज्ञान की भांति तत्वमीमांसा भी विविधता के पीछे विद्यमान एकता का अनुसंधान करना चाहती है। किन्तु वह वस्तुजगत् की अवहेलना कर उसकी पृष्ठभूमि में निहित कल्पित परमार्थ जगत् की खोज में दर्शन की वास्तविक आधारशिला का परित्याग कर देती है।[22] इस प्रकार वह अनुसंधान के वास्तविक विषय का परित्याग कर निरर्थक परिकल्पनाओं की मरुभूमि में भटक जाती है। क्योंकि वह मूर्त वास्तविकता की व्याख्या के निमित्त काल्पनिक व निरर्थक अमूर्त को जानने का व्यर्थ प्रयास करती है। परिणामस्वरूप उसे सत्य के स्थान पर स्वप्न तथा ज्ञान के स्थान पर भ्रांति की उपलब्धि होती है। परिकल्पनात्मक दर्शन दृश्य-जगत्, जो कि प्रदत्त सच्चाई है, की व्याख्या करने के बजाय उसे नकारता है और उसे मानव कल्पना से उत्पन्न मानता है। जांच के वास्तविक विषय के इन्कार पर आधारित खोज की परिणति अनिवार्यतः स्वप्न एवं भ्रांति में होती है।[23] व्यावहारिक जगत् के पीछे पारमार्थिक जगत् की कल्पना और यथार्थ को आभास कहकर उसके पीछे निरपेक्ष सत् की कल्पना को स्वीकार करना वस्तुतः सत्य से पलायन करना है। राय का कथन है कि इसी स्वीकृति के साथ दर्शन विश्वास की वस्तु हो जाता है: जो दृश्य जगत् से परे है उसकी जानकारी भी मानव बुद्धि की पहुंच से बाहर की है और जैसे ही संसार के कारण की जानकारी मनुष्य की पहुँच के बाहर की हो जाती है, विश्व और उसके साथ स्वयं मनुष्य अबोधगम्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिए संसार की समस्याओं को सुलझाना कैसे संभव

21. Ibid., p. 303.

22. "Metaphysics also begins with the desire to discover a unity behind the diversity. But it leaves the ground of philosophy in quest of a phenomenon above and beyond nature, something which is distinct from the phenomena". *Materialism*, p. 2.

23. "Speculative philosophy is the attempt to explain the concrete relatities of existence in the light of a hypothetical absolute. It is the way not to truth, but to dream; not to knowledge but to illusion. Instead of trying to understand the world, the only reality given to man, speculative philosophy ends in denying the existence of the only reality and in declaring it to be a figment of man's imagination. An enquiry which denies the very existence of the object to be enquired, is bound to end in ideal dreams and hopeless confusion." *Materialism*, p. 4.

हो सकता है? उसके लिए तो यही स्वाभाविक होगा कि विश्व जैसा भी है, क्योंकि वह ईश्वर द्वारा निर्मित है- अतः उसके लिए उसे स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई और विकल्प ही नहीं है।[24] और इसी के साथ मनुष्य की जन्मजात स्वतंत्रता लुप्त हो जाती है तथा वह अदृश्य सत्ता ईश्वर के हाथ की कठपुतली बन कर रह जाता है। उसकी स्वतंत्रता का स्रोत परा शक्ति होने के फलस्वरूप स्वयं मनुष्य की रचनात्मकता का स्वयमेव निषेध हो जाता है।[25]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ऐसा दर्शन जो वस्तु जगत् एवं इंद्रियज्ञान की उपेक्षा कर किसी अदृश्य, अज्ञात और अज्ञेय सत्ता को जीवन के निरपेक्ष मानदंड के रूप में प्रतिष्ठित कर लेता है वह मात्र अदृश्य-अमूर्त सत्य की ही स्थापना कर सकता है जो कि कोरे स्वप्न तथा निरर्थक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतएव भौतिक जगत् की घटनाओं का कारण किसी पराभौतिक काल्पनिक जगत् में खोजना किस प्रकार वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टि से न्याय संगत एवं ग्राह्य हो सकता है? सच्चाई तो यह है कि जो स्वतः अज्ञात एवं अस्पष्ट है, उसके द्वारा दूसरी वस्तुओं की व्याख्या संभव ही नहीं हो सकती। और यदि संभव भी हो तो वह दर्शन नहीं अंध आस्था मात्र है।[26] राय के अनुसार वास्तविक दर्शन तो वह है, जो मनुष्य की पूर्ण आध्यात्मिक स्वतंत्रता पर आधारित हो जिससे यह अपेक्षा की जा सके कि अपने प्रयासों द्वारा मनुष्य एक स्वतंत्र एवं सुव्यवस्थित समाज की स्थापना करने में सर्वथा सक्षम हो सके। वस्तुतः आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित भौतिकवाद ही एकमात्र सुसंगत संभव दर्शन है। बाकी सब धर्म में विलीन हो जाते हैं अथवा अहंवाद की विसंगतियों में उलझ जाते है।[27] राय कहते हैं कि धर्म का ईश्वर शक्ति का प्रतीक है, उसके शक्ति प्रयोग का न कोई नियम है न बंधन। ऐसे सर्व-शक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर के जगत में प्रत्येक मनुष्य मात्र अपनी ही सत्ता की रक्षा के निमित्त आकर्षित होता है- वह वैयक्तिक स्वार्थ सिद्धि के निमित्त ईश्वर की उपासना में लगा रहता है। अन्य कोई आदर्श

24. *Materialism*, p. 5.

25. "Man is a moral entity; therefore, he is sovereign. But his sovereignity is derived from a greater or higher power. So he is really not sovereign. The corollary is denial of human creativeness". *Reason Romantcism and Revolution*, Vol. II, p. 299.

26. *Materialism*, p. 6.

27. Indeed, Materialism, restated with the help of the latest scientific knowledge, is the only philosophy possible. Any other...merges into religion or ends in the absurdity of solipsism. *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 301. See also *Materialism*, pp. 240-241.

उसके समक्ष हो ही नहीं सकता। धार्मिक दृष्टिकोण मनुष्य को स्वार्थी बनाने के साथ-साथ उपयोगितावादी भी बनाता है। इसके तहत मनुष्य काल्पनिक ईश्वर की उपासना शुद्ध भक्तिभाव से प्रेरित होकर करने के बजाय भयवश करता है, अन्यथा वह मनोनीत-इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं कर सकेगा।[28] इस तरह धर्म मनुष्य को उसके संकुचित अहं के साथ बांध देता है जब कि भौतिकवादी दृष्टि मनुष्य की आत्मा को स्वतंत्र-उन्मुक्त अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करती है।[29]

स्पष्ट है कि भौतिकवाद मानव की सहज आध्यात्मिकता के विरुद्ध नहीं है। यह तो तत्वमीमांसीय सिद्धांतों के अज्ञान और कृत्रित प्रतिबंधों से मुक्त मनुष्य की आत्मा तथा आध्यात्मिकता की सहज स्वीकृति है।[30] यही कारण है कि राय आधुनिक विज्ञान पर आधारित भौतिकवाद का हृदय से समर्थन करते हैं और तत्वमीमांसा का निराकारण।

वस्तुतः अध्यात्मवाद एवं उससे संबद्ध तत्वमीमांसा की इस व्यापक आलोचना के द्वारा राय दर्शन के वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी स्वरूप को उद्घाटित करना चाहते हैं, जिससे विशुद्ध मानववादी दृष्टि को प्रसारित किया जा सके। उनके अनुसार सभी दृष्टियों से भौतिकवाद ही सुसंगत, सुव्यवस्थित और पूर्ण दर्शन है और इसी में है मानवीय मुक्ति का सही उद्घोष। वास्तविकता तो यह है कि अदृश्य अलौकिक सृष्टि और स्रष्टा की धारणा का अतिक्रमण किए बिना मनुष्य अपने सीमित-संकुचित अहं का परित्याग नहीं कर सकता और न ही विश्व के नव-निर्माण में सक्रिय योगदान दे सकता है। इसलिए राय मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता से विभूषित करने वाले दर्शन के रूप में भौतिकवाद को प्रतिष्ठित करते हुए उसे 'क्रांति का दर्शन' कहते हैं।[31] उनके अनुसार यह अन्य दर्शन संप्रदायों की भांति एक बंद दर्शन-तंत्र नहीं है। यह हठमत नहीं है।[32] यह प्रकृति, इतिहास तथा समाज-संक्षेप में जीवन के सभी पक्षों के अध्ययन की पद्धति है।

28. Materialism, p. 241.
29. "While religion binds man in his own petty egoism, the human spirit finds unrestricted freedom in Materialism". Ibid., p. 242.
30. मैटिरियलिज्म, पृ० 14.
31. It provides the soundest philosophical foundation of the humanist view of life because, by abolishing the supernatural, it sets man spiritually free, capable of creating a world of goodness and harmony. *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. 2, p. 302. see also *Materialism*, p. 233.
32. It is not a closed system like all the other schools of philosophy. It is not a dogma. It is a method of approaching nature, history, society in short, life as a whole, in all its diverse departments of learn the truth about it progressively. *Materialism*, p. 234.

मानव का स्वरूप

यह स्पष्ट हो चुका है कि राय के दार्शनिक चिंतन तथा विचारों का प्रमुख आधार प्राकृतिक विज्ञान है। इसलिए उनके मानव-संबंधी निष्कर्षों का आधार भी वही हैं। आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति इसी भौतिक जगत् में इसी के अपने प्राकृतिक नियमों के अंतर्गत स्वयं इसी से हुई है। अतः मनुष्य एक भौतिक जीव है।[33] वह भौतिक जगत् के नियमों से नियंत्रित है और जैविक विकास की व्यापक प्रक्रिया का परिणाम है। कालांतर में विश्व में मानव जाति के रूप में एक नवीन जाति की उत्पत्ति हुई।[34] पर क्योंकि विकास की प्रक्रिया के नियमानुसार कोई भी स्थिति अपरिवर्तनीय नहीं हो सकती अतः यह कहने का कोई अर्थ नहीं कि मानव स्वभाव कभी परिवर्तित नहीं होता। सच्चाई तो यह है कि परिवर्तित होना ही मानव स्वभाव है। पर वह परिवर्तन किसी भी जैविक इकाई को उसके स्वरूप में आमूल परिवर्तन लाने के लिए नहीं अपितु उसके अस्तित्व की सामान्यताओं को सुरक्षित रखते हुए ही संपन्न होता है। अन्य शब्दों में, जैसे जैविक-विकास के पूरे क्रम में माला की सूत्र की तरह जीवन बना रहता है भले ही उसका रूप कुछ भी हो, वैसे ही मानव जाति के पूरे विकास-क्रम में 'मानवपन' कायम रहता हैं इस विशेषता का आविर्भाव मानव जाति की उत्पत्ति के पूर्व ही हो जाता है।[35]

33. Nature is the great whole of which man is a part and by which he is influenced. Supernatural beings have always been creatures of imagination. There does not, and cannot exist anything beyond the sphere that includes all creatures. Man is a physical being. *Materialisim*, p. 142.
34. The knowledge about the descent of man rules out the doctrine of creation. The appearance of man on the earth having no other reason than the origin of a new biological species, the laws of the development of the human race cannot be essentially different from the general laws of organic evolution, Human nature, therefore, is determined by those laws, Roy, M.N., *Reason Romanticism and Revolution*, Vol. I, Calcutta, Renaissance Publishers Ltd., 1952, p. 18.
35. Subject to an evolutionary process, it cannot be an immutable category. It is a hackneyed saying that human nature never changes... to change is human nature. Otherwise, there is no sense in regarding the history of civilisation as an evolutionary process. Yet just as life is the red thread running through the whole process of biological evolution, similarly there is a residue of "hamanness" underlying the flux of the process even before it has gone beyond the border land where the primitive man is still not fully differentiated from his animal ancestry. The origin of humanness therefore antedates the origin of the species. Ibid., p. 18.

यहां एक बात और स्मरणीय है कि विकास-क्रम के सिद्धांत के अनुसार जब किसी नवीन जाति की उत्पत्ति या शुरुआत होती है, तो वह नितांत नवीन नहीं होती, वरन् वह किसी पिछली जाति का परिवर्तित या विकसित रूप ही होती है। प्रारंभिक स्थितियों में यह परिवर्तन या विकास बहुत ही मामूली सा होता है। इस प्रकार मानव जाति की आरंभिक अवस्था में और निकटतम पशु पूर्वज की अंतिम अवस्थाओं में कोई विशेष अंतर नहीं होता। संरचना और आकार में आदिम मानव और मानवाकार वानर के मस्तिष्क में बहुत थोड़ा-सा अंतर होता है। मानव जाति की बुनियाद के रूप में 'मानवपन' अपने से पूर्व प्राणी की मानसिक और भावात्मक सामग्री से ही वंशानुक्रम में मिलती है। अंततः यह कहना अनुचित न होगा कि यह 'मानवपन' मूल भौतिक पदार्थ के ही लंबे जैविक विकास क्रम का प्रत्यक्ष परिणाम है।[36]

द्वैतवादी चिंतन प्रणाली से प्रभावित लोगों की यह धारणा रही है कि यह जगत् दो प्रकार के मूल तत्वों से निर्मित है- जड़ और जीव या चेतन। किंतु आधुनिक विज्ञान ने जीव-अजीव के मध्य भेद की धारणा को समाप्त कर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि जीव की नींव जड़ में ही होती है। जिसे हम जड़ अथवा निर्जीव पदार्थ कहते हैं, व्यापक विकास के लंबे क्रम की एक अवस्था में, उसी से जीव की उत्पत्ति होती है। अस्तु, जड़ और जीव के मध्य कारण-कार्य संबद्ध है। विकासवाद की इस मौलिक खोज से परंपरागत कल्पना पर आधारित सृष्टि का सिद्धांत निरर्थक हो जाता है और यह निश्चित हो जाता है कि भौतिक जगत् एक नियमानुशासित व्यवस्था है, सजीव प्रकृति भी इसी व्यवस्था का अंग है। इसी तर्क से यह सिद्ध हो जाता है कि जैविक विकास के क्रम भी प्राकृतिक नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। अनुभवजन्य ज्ञान पर आश्रित डार्विन और वैलेस की खोजों से इस न्याययुक्त परिकल्पना की पुष्टि होती है। इसी के आधार पर तो विकास के सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ।[37] अभिप्राय यह है कि जीव कोई ऐसी कोटि नहीं जिसकी व्याख्या न की जा सके और न ही उसके पीछे कोई पराभौतिक या आध्यात्मिक प्रेरणा ही होती है। यह तो एक निर्धारित भौतिक विकास क्रम का परिणाम है। तात्विक भाषा में कहा जा सकता है कि इसकी उत्पत्ति भौतिक जगत् में निहित विवेक और तर्क की अभिव्यंजना है लेकिन विवेक स्वतः तत्वमीमांसीय या आध्यात्मिक कोटि नहीं है।[38] इस प्रकार राय प्रकृति और मनुष्य में अति निकट घनिष्ट संबंध स्थापित करते हैं।

36. वहीं, पृ० 18.

37. वहीं, पृ० 19.

38. "Life is neither an inexplicabe category called intuition, nor is it a mysteriously purposive urge; it is a determined physical process. In metaphysical terms, it is the unfolding of reason in nature. But reason itself is not a metaphysical category". Ibid., p. 19.

इस धरा पर मनुष्य का आविर्भाव शून्य से नहीं हुआ है। वह भौतिक जगत् अथवा ब्रह्मांड की पृष्ठभूमि में जैविक-विकास की लंबी प्रक्रिया द्वारा आविर्भूत है। मनुष्य अपनी इच्छा बुद्धि मन, संकल्प और विचार के साथ भौतिक जगत् का अनिवार्य अंग है। भौतिक जगत या ब्रह्मांड नियमानुशासित निकाय है, इसलिए मनुष्य की सत्ता और संभावना उसके विचार और संकल्प भी निर्धारित हैं। मनुष्य तत्वतः विवेकी है और उसका यह विवेक विश्व-सांमजस्य की प्रतिध्वनि है, उसकी नैतिकता उसकी सहज बौद्धिकता की ओर संकेत करती है। यही कारण है कि मात्र मनुष्य ही सहज भाव से नैतिक हो सकता है।[39]

एक जैविक प्राणी के रूप में नैतिक होना मनुष्य का स्वभाव है और इसी नाते वह अन्य के साथ शांति और मैत्रीपूर्वक रह सकने में समर्थ है।[40] प्राकृतिक होते हुए यह विशेषता मनुष्य को शेष प्रकृति से पृथक् करती है।

मानव स्वभाव के संदर्भ में काफी लंबे समय से, सामान्यतः दो धारणाएं प्रचलित हैं - (1) मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है और जन्मजात रूप से मात्र अपने स्वार्थ से संबद्ध है। (2) किसी अलौकिक अदृश्य शक्ति में विश्वास कर लेना ही मनुष्य का स्वभाव है। इन धारणाओं का अभिप्राय यह हुआ कि मानव स्वभावतः पापी है किंतु वह स्वर्गस्थ पिता ईश्वर या तात्विक शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण के लिए तत्पर रह कर नैतिक व सद्गुणी हो सकता है।[41] इन दोनों की धारणाओं को राय मिथ्या व भ्रांत ही नहीं वरन् किसी भी सामाजिक दर्शन व विचारधारा के लिए घातक मानते हैं। क्योंकि ये धारणाएं मनुष्य को उसके जन्मसिद्ध अधिकार-स्वतंत्रता से वंचित कर असहाय बना देती हैं। वस्तुतः स्वार्थी मनुष्य की धारणा के तहत मनुष्य का नियंत्रण या तो राज्य द्वारा अथवा ईश्वर के द्वारा आवश्यक हो जाता है, इसलिए सही अर्थों में वह स्वतंत्र रहकर

39. "Man, with his mind, intelligence will, remains an integral part of the physical universe. The latter is a cosmos-a law-governed system. Therefore, man's being and becoming, his emotions, will ideas are also determined; man is essentially rational. The reason in man is an echo of the harmony of the universe. Morality must be referred bak to man's innate rationality. Only then, man can be moral, spontaneously and voluntarily. "Roy, M.N., *New Humanism, A Manifesto*, Delhi : Ajanta Publication, 1981, pp. 35-36. See also *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 306.

40. Man's rationality and moral sense, which are casually connected, are the expression of cosmic harmony. Therefore, it is in the nature of man, as a biological organism to be rational and moral, and as such he is capable of living with others in peace and harmony. *Reason, Romanticism and Revolution*-II, p. 301.

41. *New Humanism, A Manifesto*, p. 94.

राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक विषयों में कोई व्यवहार-उपक्रम नहीं कर सकता। अतएव आधुनिक सभ्यता के संकट का मुख्य कारण, मानव-स्वभाव के प्रति यह भ्रामक धारणा ही है। क्योंकि मानव-स्वभाव की ऐसी धारणा के तहत ऐसे समाज दर्शन का विकास संभव नहीं है जो स्वतंत्रता व समता के क्रियान्वयन का जिम्मा लेने के लिए आर्थिक व राजनैतिक सिद्धांतों के बहिष्कार को स्वीकार कर सके।[42]

अस्तु, मानव-स्वरूप की मिथ्या अथवा भ्रांत धारणा के अंतर्गत मानवमुक्ति संभव ही नहीं है। अलौकिक सत्ता में विश्वसा करने वाला मनुष्य ईश्वर के संसार में कोई परिवर्तन अथवा सुधार की कल्पना ही नहीं कर सकता। ईश्वर की अधीनता स्वीकार करने के नाते वह सदैव आध्यात्मिक दास बना रहता है- जगत नियंता ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः स्वतंत्रता उसके लिए भ्रम मात्र है। इसी प्रकार स्वभाव से स्वार्थी होने के कारण मनुष्य का नियंत्रण राज्य द्वारा अनिवार्य हो जाता है। अस्तु दोनों ही स्थितियां में मनुष्य अपनी स्वतंत्रता गंवा कर पतनोन्मुख हो जाता है और उसकी मानवीयता उभर नहीं पाती। यह स्थिति मानववाद के लिये घातक और विनाशकारी है।

मानव सभ्यता का इतिहास तथा आधुनिक विज्ञान, मानव स्वभाव संबंधी इन धारणाओं का निराकारण कर यह घोषित करते हैं कि मनुष्य न तो स्वार्थी है और न अंधविश्वासी। मानव स्वभाव का सार विवेक है- उसका स्वभाव विश्वास करना नहीं, संदेह करना, निरीक्षण करना और जानना है।[43] उसका स्वभाव स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना और सत्य का अन्वेषण करना है, जिसकी अभिव्यक्ति हमें मानव-जाति के उस सांस्कृतिक विकास में मिलती है, जिसका आरंभ आदिम मानव के समय में हुआ था। पारभौतिक, पारलौकिक शक्तियों में श्रद्धा व विश्वास कर लेने से तो मानव को अपने प्राकृतिक-मूल स्वभाव को ही त्याग देना पड़ता और यदि ऐसा हुआ होता तो आदिम आज भी उसी आदिम अवस्था में पड़ा होता। क्योंकि ज्यों ही मानव चिंतनशील बना, त्यों ही 'मन' और विचार भी जैविक विकास की प्रक्रिया में प्रविष्ट हो गए और तब से विकासक्रम में अन्यों के साथ वे भी सक्रिय या निर्धारक कारकों की भूमिका निभाने लगे

42. With these prevailing views of human nature, it was not possible to develop such a social philosophy which allowed deduction of economic theories and political doctrines to guarantee freedom and equality in practice. The result is the present crisis fof modern civilisation. Ibid., p. 95.

43. Scientific knowledge liberates man from the time honoured prejudices about the essence of his being and the purpose of life. It reveals the truth about human nature. Man is esentially a rational being, his nature is not to believe, but to question, to enquire and to know. Reason, Romanticism and Revolution, Vol. II, p. 308.

और क्योंकि नियमानुशासित भौतिक जगत् से उत्पन्न होने के कारण ये 'मन' और 'विचार' की धारणाएं भी विवेकी धारणाएं हैं, इसलिए उसके बाद मानव की बुद्धि तथा भावनाओं का जितना विकास हुआ उसका आधार भी विवेक है।[44]

अतः मनुष्य को उसके पशु-पूर्वजों से भिन्न करने वाली चेतना अथवा आत्मा का जिसका आविर्भाव मूलतः जड़ द्रव्य से, जैविक विकास की प्रक्रिया के अंतर्गत बहुत बाद में होता है[45] स्रोत कोई तत्वमीमांसीय रहस्य नहीं है। राय भौतिक शरीर से भिन्न आत्मा की तात्विक कोटि में विश्वास नहीं करते। शरीर से परे आत्मा की कल्पना मिथ्या एवं भ्रामक धारणा मात्र है। आत्मा, जगत् के मूलभूत भौतिक तत्व से स्वतंत्र नहीं है, उसका एक गुण है। उनका स्पष्ट कथन है कि 'आत्मा मानवीय सत्ता के बौद्धिक और भावनात्मक गुणों का पूर्ण योग है।[46] किन्तु निर्जीव भौतिक द्रव्य से उत्पन्न होने के कारण चेतना अथवा आत्मा की क्षमता कम नहीं होती बल्कि बढ़ जाती है। क्योंकि तथाकथित अदृश्य ईश्वर एवं धर्म शास्त्र के कपोल-कल्पित बंधन से मुक्त होकर ही मनुष्य पहली बार अपने जन्म-सिद्ध अधिकार स्वतंत्रता का एहसास करता है। यह वैज्ञानिक शोधों से सिद्ध तथ्य है कि मनुष्य की मानवीयता का कोई अलौकिक अथवा अतींद्रिय उद्गम नहीं है। वह भौतिक प्रकृति के विकास की सर्वोच्च उपज है और चूंकि भौतिक प्रकृति सुसंगत और नियमानुशासित है इसलिए मनुष्य में सुसंगठित एवं नियमानुशासित होने के तत्व स्वाभाविक और जन्मजात होते है। ये दोनों ही विशिष्ट मानवीय गुणों की बुनियाद होती है। तत्वतः मनुष्य विवेकशील है और किसी पारमार्थिक सत्ता से नियंत्रित न होने के कारण पूर्णतः स्वतंत्र है- धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्गम के पूर्वाग्रह से उन्मुक्त हो कर ही मनुष्य अपने बल पर उठकर अपने अंदर निहित अनंत संभावनाओं का एहसास करता है। काल्पानेक ईश्वर का संबल धारण कर मनुष्य हीन

44. "Human nature is not to believe but to struggle for freedom and search for truth, the latter aspect manifesting itself in homo sapiens. The distinction is fundamental. Belief in supernatural being or mysterous metaphysical forces would make submission to the object of belief the essence of human nature.If that was the case, man would have never emerged from the state of savagery. Because, as soon as the biological form belonging to the human species become a thinking being, mind and thought entered into the process of organic evolution as its determining factors. Having grown out of the background of the law governed physical universe, they are rational categories; therefore, the entire subsequent process of man's intellectual and emotional development is also rational". *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. I, pp. 23-24.

45. *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 306.

46. "The soul's is a sum total of the intellectual and emotional attributes of the human being". Ibid., p. 305.

भावना से दब कर अपने जिस आत्मविश्वास को खो बैठा था, उसे पुनः प्राप्त करता है और अपेक्षाकृत स्वतंत्र व नवीन संसार के निर्माण में समर्थ होता है- इसी अर्थ में मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है।[47] इस तरह मनुष्य के स्वरूप के संबंध में राय की धारणा पूर्णतः मानववादी है।

एम०एन० राय मानव स्वभाव की इसी मूलभूत वैज्ञानिक धारणा की पृष्ठभूमि में अपनी मानववादी दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य स्वभावतः अनुभव में आने वाली हर घटना और स्थिति को जानना और समझना चाहता है। मानव स्वभाव कोई स्थिर अपरिवर्तनीय तत्व नहीं है। उसमें निरंतर परिवर्तन तथा विकास होता रहता है। यह स्वाभाविक है कि मनुष्य जितना जानता है, उससे वह संतुष्ट नहीं होता निरंतर और अधिक जानने का प्रयास करता रहता है और अपने इस प्रयास से जगत् में भी परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। जगत् को परिवर्तित करने की निरंतर प्रक्रिया में ही मानव-ज्ञान की अनंत वृद्धि होती है और प्रत्येक काल का ज्ञान इसीलिए मूल्यावान होता है क्योंकि उससे ही मनुष्य की जगत्-परिवर्तन की प्रक्रिया संभव होती है।[48] वस्तुतः यही तो विवेक को विकसित करना होता है। ज्ञान की वृद्धि से विवेक का विकास होगा और विवेक के विकास से मानव व्यक्तित्व की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति होती जायेगी।

मानव स्वभाव-संबंधी इस धारणा के कारण राय का नव्य-मानववाद अन्य सभी वादों, सिद्धांतों से भी मूलतः भिन्न है, क्योंकि राय का भौतिकवादी दर्शन मनुष्य को संसार में परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित करता है और उसी प्रक्रिया में स्वयं मनुष्य में भी परिवर्तन आते हैं।[49] इससे उत्तरोत्तर मानव-व्यक्तित्व की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती जाती है।

मानवीय मूल्य : स्वतंत्रता, ज्ञान तथा सत्य

मूल्यों का विषय किसी भी समाज-दर्शन में अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि मानव में मूल्य-बोध न होता तो आज मानव-समाज का यह रूप न होता। राय के दर्शन की विशद् विवेचना से स्पष्ट हो चुका है, कि मनुष्य का अस्तित्व, उसके विकास की प्रक्रिया, उसके आवेग-संवेग, भावनाएं, उसके समस्त गुण-बुद्धि विवेक, इच्छा,

47. रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड-2, पृ० 310.

48. "Only in the process of transforming the world continuously, does the store of human knowledge endlessly increase; and the knowledge of a given epoch is valuable in so far as it enables man to transform the world, threreby opening a new epoch of progress." *Materialism*, p. 233.

49. "Materialist philosophy inspires man to change the world and himsellf in the process". *Materialism*, p. 234.

संकल्प, मूल प्रवृत्ति आदि-प्रकृति के जैविक विकास के परिणाम हैं।[50] मूल्यों का स्रोत भी जैविक विकास-क्रम में ही निहित है।[51] अस्तु, इसे ही अपनी मूल्य-संबंधी धारणा की आधारशिला मानकर राय 'नैतिक अनुशास्ति' की समस्या का समाधान करते हैं। उनके अनुसार संसार मूलतः एक नैतिक संसार है लेकिन उसकी नैतिकता का उद्भव केंद्र कोई अतींद्रिय सत्ता नहीं है, नैतिक नियम प्रकृति की जैविक विकास-प्रक्रिया के तहत जगत् में ही अंतर्भूत है। एम०एन० राय ने स्पष्ट शब्दों में कहा है चूंकि मानव की जैविक विरासत में ही सब नैतिक मूल्य उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें किसी ऐसी अनुशास्ति की आवश्यकता नहीं है जो मानव अस्तित्व से परे हो। अतः नैतिक होने के लिए केवल मानव होने की आवश्यकता है किसी दैवी या रहस्यमय पारभौतिक अनुशास्ति की नहीं। मानववादी नैतिकता विकासवादी होती है।[52] इस प्रकार राय का विवेकसंगत नव्य-मानववादी नीतिशास्त्र, जिसे कि उन्होंने स्वयं विकासवादी नीतिशास्त्र कहा है, का संबंध व्यापक नीतिशास्त्र के इतिहास में उस परंपरा तथा विचारधारा से है जिसके साथ डार्विन, हर्बर्ट स्पेन्सर, सी० एच० वैडिंगटन और जूलियन हक्सली आदि के नाम जुड़े हुए है।

राय ने अपनी मानववादी मूल्य-मीमांसा के आदि-बिंदु के रूप में स्वतंत्रता को सर्वोच्च मूल्य के पद पर प्रतिष्ठित किया है। उनके अनुसार जैविक विकास के समूचे क्रम में बहुत गहराई में इसकी 'स्वतंत्रता की ललक' के रूप में मानव-अस्तित्व के सार की जड़ें ढूंढी जा सकती हैं। अभिप्राय यह है कि पूरे जीव जगत् में मूल्य अंतर्गत हैं। शब्दांतर से उनमें मूल्यों का होना स्वाभाविक है। प्रत्येक प्राणी के हर व्यवहार के पीछे किसी न किसी मूल्य की प्रेरणा रहती ही है। राय ने समूचे मानव इतिहास में जैविक प्रेरणा को खोजने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति, जीव और मानव समाज तीनों के मध्य एक भौतिक और स्वाभाविक परस्पर संबंध स्थापित किया जा सके। फलतः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि 'नव्य-मानववाद की मूल्यमीमांसा' स्वतंत्रता को सर्वोच्च और अन्य सभी मूल्यों का उद्गम मानती है। स्वतंत्रता जीवन का सर्वोच्च मूल्य है क्योंकि स्वतंत्रता की इच्छा मानव-अस्तित्व का सार है; वस्तुतः जैविक विकास की संपूर्ण प्रक्रिया में इसे ढूंढा जा सकता है।[53]

50. *रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन*, खंड-2, पृ० 308.

51. *मैटेरियलिज्म*, पृ० 142.

52. "Since all ethical values are derived from the biological heritage of man, they require no sanction which transcends human existence. To be moral one needs only be human; it is not necessary to go in search of divine or mystic metaphysical sanction. Humanist morality is evolutionary". *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 307.

53. "The exiology of New Humanism deduces all values from the supreme value of freedom. Freedom is the supreme value of life, because the urge for freedom

जैविक विकास की प्रक्रिया में मानव जाति के विकसित हो जाने पर इसी स्वतंत्रता की अंतःप्रेरणा को खोजते हुए राय कहते हैं, कि इस पृथ्वी पर अपने आविर्भाव काल से ही मानव जाति को अपने उत्तरजीविता के लिए अपने पर्यावरण से संघर्ष करना पड़ा। स्वतंत्रता के लिए निरंतर चलने वाले संघर्ष का वह प्रारंभ था। तब से आज तक की मनुष्य की समस्त उपलब्धियां, सांस्कृतिक प्रगति, वैज्ञानिक ज्ञान, कलात्मक कृतियां-सभी उसी स्वतंत्रता की प्रेरणा का परिणाम हैं। स्थिति के पूर्ण विश्लेषण से ज्ञात होता है कि मानव-अस्तित्व का पर्यावरण समूचा विश्व है। और चूंकि यह अनंत है इसलिए मनुष्य का अपने उत्तरजीविता के लिए संघर्ष भी अनत है-शाश्वत है, वह कभी भी पूरे विश्व को जीत नही सकेगा। अतः मनुष्य की स्वतंत्रता की खोज भी शाश्वत एवं अनंत है।[54] इस प्रकार स्वतंत्रता मानव जीवन की ही एक मूल प्रवृत्ति है। मानव की यह मौलिक अंतःप्रेरणा अथवा मानवपन का मूल-गुण धर्म उसमें जन्मजात होता है, इसलिए स्वाभाविक व प्राकृतिक है। अतः शारीरिक रूप में विद्यमान गुणों तथा क्षमताओं के सामान्य विकास तथा अभिव्यक्ति के मार्ग से हर प्रकार के अवरोधों को दूर करना ही वस्तुतः स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना है। स्वतंत्रता का यह संघर्ष नवीन नही है। इतिहास में यह आदिकाल से प्राप्त होता है-कभी उसे मोक्ष कहा गया, तो कभी सामान्य शब्दों में स्वतंत्रता कहा गया है। राय के अनुसार वस्तुतः मनुष्य में निहित स्वतंत्रता की तलाश-खोज ही वह प्रेरणा स्रोत है, जो मानव जाति को उसकी जैविक पृष्ठभूमि से भिन्न-विशिष्ट घोषित करता है। यह मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्ति है, हालांकि प्रायः मनुष्य अपनी स्वतंत्रता के प्रति अचेतन होकर स्वतंत्रता प्राप्त करता है।[55] राय का दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र हुए बगैर मनुष्य स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर ही नहीं सकता।[56]

प्रश्न उठता है कि स्वतंत्रता का यह जैविक गुण क्या है? वैज्ञानिक दृष्टि से गुण कोई रहस्य अथवा अनिर्वचनीय तत्व नहीं है। किसी भी जीवित प्राणी में अपने जीवन अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करने की स्वाभाविक क्षमता या गुण होता है।

---

is the essence of human existence. Indeed it can be traced all the way down the entire process of biological evolution." *Reason, Romanticism and Revolulation*, Vol. 2, p. 307.

54. "As soon as it appeared on the earth, the human species had to undertake the struggle with environments for survival. That was the beginning of an endless struggle for freedom. Since then, all human achievements-cultural process, scientific knowledge, artistic creations-have been motivated by the urge for freedom. In the last analysis, the environment of human existence is the whole universe. The later being unbounded, man's struggle for survival is eternal; he will never conquer the universe. His urge freedom, therefore, undying eternal." *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. 2, p. 307.

55. रीजन, रोमांटिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड-I, पृ० 30-31.

मनुष्य का स्वातंत्र्य संघर्ष उसी अस्तित्व-संघर्ष को ऊंचे, मानवीय-संवेग तथा बुद्धि के स्तर पर जारी रखना है।[57]

मानव समाज की रचना और विकास का स्रोत भी मानव में विद्यमान इसी स्वतंत्रता का स्वाभाविक सहज गुण है। इसी जैविक गुण के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने जीवन रक्षण के निमित्त संघर्षरत हुआ। फिर अपने रक्षात्मक साधनों को एकत्र कर प्राकृतिक समाज के समानांतर मानव समाज का निर्माण किया और फिर अपनी जीवन-संबंधी परिस्थितियों में विकास व सुधार का विचार किया। अन्य शब्दों में स्वतंत्रता का गुण ही मानव को सामाजिक उत्थान के लिये प्रेरित करता रहा। वस्तुतः स्वतंत्र व्यक्ति ही सामाजिक क्रिया-कलाप की ओर उन्मुख हो सकता है। वह किसी बाध्यता अथवा मजबूरी के कारण नैतिक नहीं होता वरन् स्वतंत्रता के बोध से प्रेरित होकर नैतिक होता है।[58] नैतिक मनुष्यों के बगैर नैतिक समाज का निर्माण संभव नहीं है अर्थात् आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र मनुष्यों का अस्तित्व किसी भी आदर्श सामाजिक व्यवस्था की मुख्य शर्त है।[59] यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि मनुष्य को उसके पशु-पूर्वजों से भिन्न करने वाला प्रथम यंत्र मस्तिष्क है, जिसका गुण धर्म-विवेकशीलता, संकल्प स्वातंत्र्य आदि हैं। अतः यदि विवेक मानव का एक जैविक गुण है, तो स्वतंत्रता की ललक अथवा अंतःप्रेरणा उसी की वह अभिव्यक्ति है, जिसके द्वारा मानव समाज की उत्पत्ति हुई और सामाजिक विकास की भावना का स्रोत मनुष्य की वैयक्तिक स्वतंत्रता की भावना का ही एक विकसित रूप है। वस्तुतः किसी भी समाज दर्शन एवं जीवन दर्शन का आधार उसकी मूल्य व्यवस्था होती है, इसलिए राय के नव्यमानववाद की नैतिक व्यवस्था का पहला और सर्वोत्कृष्ट मूल्य 'स्वतंत्रता' है, जीवन के अन्य सभी मूल्य इससे ही उद्भूत होते हैं।

इस 'स्वतंत्रता' की आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त 'ज्ञान' आवश्यक है इसलिए राय के नव्यमानववाद की मूल्य-व्यवस्था में स्वतंत्रता के पश्चात् दूसरा स्थान 'ज्ञान' का है।

---

56. "I do not believe that spiriturally enslaved people can lead the struggle for freedom". Roy, M.N., *New Orientation*, Delhi : Ajanta Publications, 1982, p. 111.

57. *रीजन रोमांटिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन*, खंड-2, पृ० 288 और भी देखिये *न्यू ह्युमैनिज्म ए मेनिफेस्टो*, पृ० 53, *प्रिन्सेपल्स ऑफ रेडिकल डेमाक्रेसी*, थीसिस 2.

58. The free individual discharges his social functions, not under any compulsion, nor again as a homage to the exacting god of a collective ego, but out of a moral conviction, which grows from the conciousness of freedom. *New Humanism*, A Manifesto. p. 7.

59. Ibid., pp. 82-83.

विदित है कि मानवीय विशेषताएं अथवा गुणधर्म-चेतना, प्रतिक्रिया, बुद्धि इच्छा, सहज प्रवृत्ति आदि सभी जैविक विकास के परिणाम हैं। इसी जैविक विकास क्रम के तहत ही चिंतन, कल्पना, स्मृति तथा भाषा ऐसी विशेषताएं भी मानवीय स्तर पर ही पूर्णतः विकसित हुईं। फलतः मनुष्य के सर्वाधिक निकटतम पशु-पूर्वज और आदिम मानव ने भी काफी समय तक अपनी उत्तरजीविता अथवा अस्तित्व की रक्षा के निमित्त जो जैविक संघर्ष किया यह यांत्रिक था किंतु विकसित मनुष्य का संघर्ष यांत्रिक के स्थान पर सोद्देश्य एवं सप्रयोजन होने लगा वह प्रकृति पर नियंत्रण तथा विजय प्राप्त करने के लिए स्वैच्छिक एवं सप्रयोजन प्रयास करने लगा। इसी सप्रयोजनता ने मनुष्य को उसके निकटतम पूर्वजों से भिन्न कर दिया। इसी विशिष्टता के परिणामस्वरूप मात्र जीवन-रक्षार्थ किए जाने वाले अंधे संघर्ष ने अब स्वतंत्रता के लिए सोच-विचार कर की जाने वाली खोज का रूप ले लिया।[60] इस प्रकार ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उसके अस्तित्व की रक्षा ही नहीं अपितु सार्थकता भी सिद्ध होती गयी। मनुष्य जितना ही अधिक ज्ञान प्राप्त करता जाता है, उतना ही अधिक वह स्वतंत्र होता जाता है। मनुष्य में ज्ञानार्जन की क्षमता उसे अपने पशु-पूर्वजों से भिन्न करती है। ज्ञान उसे उस शक्ति से संपन्न करता है, जिसके द्वारा वह बड़ी से बड़ी स्वतंत्रता तथा सत्य के अनुसंधान के लिए संघर्ष करता रहता है।[61] अन्य शब्दों में ज्ञान वह अस्त्र है, जिसके द्वारा मानव स्तर पर, स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी जाती है। इस ज्ञान की उपलब्धि में वैज्ञानिक दृष्टि और विधि सर्वाधिक उपयोगी है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है, कि आज का मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक ज्ञानी और स्वतंत्र भी है। स्वतः मानवीय विकास का इतिहास इसका साक्षी है कि किस प्रकार ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य स्वतंत्र होता गया।

60. "On the human level, the bilological struggle for existene and survival is no longer carried on through mechanical adaptations. It consists in purposive efforts for the conquest of nature. Purposiveness differentiates man from his immediate ancestors. With it, the blind struggle for survival becomes a conscious quest for freedom," *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. 2, p. 289. See also *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. I, p. 32.

61. "The capacity to acquire knowledge, as distinct from the common biological property of awareness, differentintes man from his animal ancestry. Knowledge endows him with the power to carry on the endless struggle for greater and greater freedom, and the seareh for truth". *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. 2, p. 308.

मनुष्य के समस्त बौद्धिक प्रयासों-वैयक्तिक या सामूहिक-का लक्ष्य निरंतर अधिक से अधिक स्वतंत्रता की प्राप्ति करना है।[62] अस्तु, विवेक का ही एक पक्ष होने के नाते स्वतंत्रता का आवेग मनुष्य को स्वयं अपने-अपने पर्यावरण तथा संपूर्ण प्रकृति के बारे में ज्ञान की खोज करने के लिए बाध्य कर देता है और ज्ञान की तलाश की इस प्रक्रिया में उसे 'सत्य' की उपलब्धि होती है। अन्य शब्दों में स्वतंत्रता की तलाश में मनुष्य सत्य की खोज करता है। यह सत्य जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कोई रहस्यात्मक, तात्विक कोटि नहीं है और न ही अमूर्त मूल्य है। यह मनुष्य के ज्ञान की अंतर्वस्तु होती है इसलिए यह एक वस्तुनिष्ठ वास्तविक तथ्य होता है।[63] मूल्य और तथ्य में भी कोई अंतर नहीं है। मूल्य स्वतः एक सत्य है। अतः मानववादी मूल्य-व्यवस्था का तृतीय मूल्य यही 'सत्य' है।

सत्य की तलाश और उपलब्धि भी-मानव की स्वतंत्रता की मौलिक खोज का एक स्वाभाविक परिणाम है, क्योंकि जिस सीमा तक सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है, उसी सीमा तक मनुष्य स्वतंत्र होता जाता है। वस्तुतः प्रकृति की शक्तियों के आतंक तथा प्रकोप से बचने के निमित्त अर्थात् स्वतंत्रता के लिए मनुष्य प्रकृति पर विजय व नियंत्रण पाने की जरूरत महसूस करता है यानी वह इसे जानने समझने अथवा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है और इस प्रक्रिया में वह विज्ञान का विश्वास करता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह सत्य अथवा यथार्थ की तलाश करता है और जितनी मात्रा में सत्य की प्राप्ति उसे होती है, उसी मात्रा में उसे स्वतंत्रता की भी उपलब्धि होती जाती है। अन्य शब्दों में सत्य का अन्वेषण मनुष्य के स्वतंत्रता की खोज का परिणाम है।[64]

62. "The purpose of all rational human endeavor, individual as well as collective, is attainment of freedom, in ever increasing measure". *New Humanism-A Manifesto*, pp. 53-54. *Principles of Radical Democracy*, Thesis 3.

63. "It is the basic incentive for him to acquire knowledge and conquer environments by knowing them. In course of the struggle for freedom, man discovers truth. It is neither a mystic-metaphysical category nor an abstract value. It is the content of man's knowledge. Therefore, it is a fact objectively real". *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. 2, pp. 307, 290. See also *New Humanism-AManifesto*, p. 53. *Principles of Radical Democracy*, Theses 2. See also, *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. I, p. 32.

64. "In pursuit of the purpose of conquering nature, man develops science which is a search for truth. The relation between truth and freedom thus is evident. Discovery of truth is the result of man's quest for freedom." *Reason Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 290.

संक्षेप में जिस जैविक प्रवृत्त्यात्मक विवेक ने मनुष्य को पशुओं से भिन्न एक विशिष्ट स्थान पर प्रातेष्ठित किया उसी विवेक ने स्वतंत्रता के अंतःप्रेरणा का रूप लेकर उसे प्रकृति तथा पशुओं के भयानक आतंक से स्वतंत्र किया और इस स्वतंत्रता-संघर्ष के निमित्त शस्त्र के रूप में 'ज्ञान' का आश्रय लेकर उसने अपने चारों ओर के संपूर्ण पर्यावरण को अधिक से अधिक जानने-समझने का प्रयास किया, परिणामस्वरूप उसे 'सत्य' का बोध होता गया जो धीरे-धीरे सर्वव्यापी वस्तुनिष्ठ तथ्यता-वास्तविकता के अधिकाधिक समीप होता गया।

अस्तु मानववादी मूल्य-मीमांसा त्रयात्मक है। इसके तीनों मूल्यों-स्वतंत्रता, ज्ञान और सत्य-में से कोई भी अपने में पूर्णतः स्वतंत्र एवं भिन्न नहीं होता।[65]

इस प्रकार राय का वैज्ञानिक नव्य-मानववाद नैतिकता के सबल-सुदृढ़ नींव पर आधारित है, जिसके अनुसार नैतिकता की अनुशास्ति का केंद्र स्वयं मनुष्य में है। उसका आधार मनुष्य से परे किसी दैवी शक्ति, ईश्वर, धर्म आदि में ढूंढ़ना जैसा कि धार्मिक नीतिशास्त्र में स्वीकार किया जाता है- वस्तुतः मनुष्य को नैतिकता से च्युत करना है। अंततः इसका अभिप्राय यह निकलता है कि मनुष्य स्वयं एक मनुष्य होने के नाते अपने से नैतिक नहीं हो सकता और ऐसा बनने के लिए उसे किसी लोकोत्तर अनुभवातीत स्रोत की आवश्यकता है। इस आध्यात्मिक निर्भरता की भावना से त्रस्त मनुष्य कभी भी वास्तविक अर्थ में स्वतंत्र नहीं हो सकता है।[66] अतः राय के अनुसार यदि नैतिकता की समस्या का वास्तविक समाधान पाना है और मनुष्य को नैतिक बना कर इस योग्य बनाना है कि वह शुभ द सत आचरण स्वयं कर सके, तो तमाम पुरानी परंपरागत नैतिक विचारधाराओं का परित्याग करना होगा। नैतिकता के अनुशास्ति की समस्या के संतोषजनक समाधान के निमित्त मानवीय सत्ता के अधःस्तर में जाना होगा। पहले के नैतिक दार्शनिकों ने इस समस्या के समाधान के लिए अपनी दृष्टि या तो ऊपर स्थित ईश्वर में अथवा मनुष्य में स्थित ईश्वर में केंद्रित की। किन्तु मानव कोई रहस्यमय सत्ता नहीं है। उसके जैविक इतिहास की प्रक्रिया में ही नैतिक अनुशास्ति की समस्या का समाधान निहित है।[67] यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। नैतिकता की अनुशास्ति स्वतः मनुष्य की बुद्धिपरता है।[68] जो कि तत्व मीमांसीय कोटि नहीं है, एक जैविक गुण है।[69] अतएव वैज्ञानिक मानववाद के विकासवादी नीतिशास्त्र को

65. "The hierarchy of humanist exiology, thus is freedom, knowledge, truth. They are not autonomous. They are interrelated, logically as well as ontologically. Ibid., p. 307.

66. *न्यू ह्युमैनिज्म ए मेनीफेस्टो*, पृ० 84.

67. *रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन*, खंड-2, पृ० 300.

68. *न्यू ह्युमैनिज्म ए मेनीफेस्टो*, पृ० 36, 87.

69. *रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन*, खंड-I, पृ० 19.

सूत्रवत् इस प्रकार रखा जा सकता है कि 'मनुष्य विवेकशील है, इसलिए वह नैतिक हो सकता है और इसीलिए वह ऐसा होता भी है।' और चूंकि विवेकशीलता मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है इसलिए बीज-रूप में प्रत्येक मनुष्य में और मात्र मनुष्य में ही नैतिक होने की क्षमता विद्यमान है। जिस मनुष्य में यह विवेकशीलता जितनी अधिक मात्रा में विकसित होती है, वह उसी मात्रा में नैतिक आचरण करने में सक्षम होता है।

इस प्रकार मानव स्वभाव का सार विवेकशीलता होने के कारण हमारी नैतिक अनुशास्ति के स्रोत के प्रश्न का समाधान हो जाता है और साथ ही 'सामाजिक नैतिकता' का समाधान भी इस तरह हो जाता है, 'जैविक विकास-क्रम में शारीरिक रूप से चूंकि सभी मनुष्यों की बनावट समान है और यदि इसके साथ-साथ ज्ञान अर्थात् बौद्धिक विकास के मामले में भी कम-से-कम किसी एक हद तक सब में (या जितनों में) समानता होगी, तो वे सभी समान परिस्थितियों में समान रूप में प्रतिक्रिया करेंगे ही। अतः चूंकि सभी मनुष्य एक से बने हुए हैं, इसलिए यदि इनमें अच्छे-बुरे या सत्-असत् में भेद और निर्णय करने की योग्यता पैदा की जा सके और मूलतः विवेक एवं स्वतंत्रता की ललक होने के कारण ऐसा किया जा सकता है-तो सभी लोगों से समान अवसरों पर समान या लगभग समान व्यवहार करने की और इसी के फलस्वरूप सामाजिक नैतिकता के पैदा होने की आशा की जा सकती है।'[70]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राय का नव्य-मानववादी दृष्टिकोण पश्चिम से प्रभावित है पर वह पूर्व और पश्चिम की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए एक सार्वभौम दृष्टि का प्रसारण करता है। यही नहीं, वह आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ भी न्याय करता है। इसलिए उसकी सम-सामयिक प्रासंगितकता है।

70. राय एम०एन० : साप्ताहिक *रेडिकल ह्यूमनिस्ट*, मई 29, 1949.

अध्याय - 6

निष्कर्ष

निष्कर्ष: यह कहा जा सकता है कि विश्व के दोनों ही ध्रुवों-पूर्व एवं पश्चिम में एक अतिशय संवेदनशील मानवीय दृष्टि का प्रसारण हुआ जिसने परंपरागत मानवीय विश्वासों को खंडित करते हुए उसके जीवन को एक नए विश्वास से पूरित किया है और ऐसा करने लगा है कि ईश्वर-जैसी किसी अलौकिक सत्ता की स्नेह साया में पलने वाला शिशु मानव अब अपने को उसके पाशों से मुक्त कर अपने दायित्वों को समझने और उसके निर्वाह में पूर्णतः सक्षम हो गया है। इसी के साथ दिव्य, अलौकिक, अतिप्राकृतिक, अतिमानवीय शब्दों ने उसके जीवन में नए अर्थ ढूंढ लिए हैं-वे किसी परामानवीय सत्ता की शक्ति के प्रतीक न रहकर उसके ही जीवन के उन्नत आयामों को व्यक्त करने वाले शब्द प्रतीक हैं- जिन्हें हम यथार्थ कर अपने जीवन को समृद्ध कर सकते हैं और उसे सही अर्थों में सार्थक बना सकते हैं। ये विचार मनुष्य की ऊर्ध्वोन्मुखी गति के लिए सार्थकता तो रखते ही हैं, युगीन आवश्यकताओं के भी सर्वथा अनुकूल हैं। इसलिए संभवतः दोनो ही ध्रुवों में इनकी इतनी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। भारत की समकालीन परिस्थितियों के लिए तो वे और भी मंगलकारी हैं, क्योंकि शताब्दियों की दासता के नाते उसकी चेतना सुप्तप्राय ही थी। अस्तु, उसके समक्ष यह दर्शन एक उद्घोष के रूप में ही आया और इसी रूप में आज भी उसकी सार्थकता है। यह हममें प्रेरणा भरे, हम अपने जीवन को इसकी अपेक्षाओं के अनुकूल बनाएं तो जीवन समृद्ध होगा ही, हम साधना के पथ पर भी सहज ही आगे बढ़ते जाएंगे। सत्यं शिवं सुंदरं का मार्ग सहज ही हमें मिल जाएगा।

इस दर्शन की सार्थकता को यदि हम आज के संदर्भ में देखना चाहें तो हमें उस स्थिति का अध्ययन करना होगा जिसे विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने संभव बनाया है। आज अनेकों दशकों के बाद भी विज्ञान की प्रगति ने यदि एक ओर अपरिमित भौतिक सुख-सुविधाओं के द्वार खोल दिए हैं तो दूसरी ओर मानव की सहज संवेदनशीलता को कुंठित कर दिया है। एक ओर वैज्ञानिकों ने ऐसे यंत्रों एवं उपकरणों

की खोज कर ली है, जिससे कि उनका जीवन वैभव युक्त होता जा रहा है, तो दूसरी ओर शक्ति-संचय तथा उसके प्रदर्शन की होड़ में उसने ऐसे साधनों को ढूंढ निकाला है, जिनसे संपूर्ण जाति का संहार भी संभव है। आज मनुष्य ने प्रकृति की शक्तियों पर इतना अधिक नियंत्रण प्राप्त कर लिया है कि बटन दबाते ही दो-तिहाई संसार का संहार किया जा सकता है। विज्ञान की प्रगति का यह दुष्परिणाम आज समूचे संसार के मननशील व्यक्तियों के लिए चिंता का विषय बन गया है। उनके सम्मुख विचारणीय विविध समस्याओं में कोई भी इतनी गंभीरतम परिणाम वाली नहीं है, जितनी कि यह समस्या है कि मानव स्वयं किस प्रकार इस संहार की संभावना का सामना कर सकता है।

वस्तुतः वैज्ञानिक विकास नैतिक मूल्यों से रहित नहीं होता। विज्ञान ज्ञान भी है, वह शक्ति भी है और साथ ही साथ उसकी उपयोगिता भी है। वह ज्ञानवर्धक है और फलदायक भी। पर वैज्ञानिक प्रगति ज्ञान की दृष्टि से स्वयं अपने में निरपेक्ष होती है। उसका शुभ और अशुभ परिणाम उसके उपयोग की विधि तथा प्रेरणा पर निर्भर करता है। विज्ञान के पास स्वार्थपरता की कोई औषधि नहीं है। वैज्ञानिक साधनों का सर्वनाशकारी होना अथवा गुणकारी होना वैज्ञानिक विचारों तथा भौतिक शक्तियों के विवेकपूर्ण प्रयोग पर निर्भर करता है। सत् का चुनाव करने के लिए उन्नत संस्कारों की आवश्यकता होती है। मनुष्य सच्चे मार्ग का वरण करे-विज्ञान का सदुपयोग करे तो वैज्ञानिक उपलब्धियां उसे अपरिमित व चमत्कारिक भौतिक सुख-संपदा उपलब्ध कराने में समर्थ हो सकती है, अन्यथा उसे रसातल में विलीन कर देने की भी वे शक्ति रखती हैं। अस्तु, यह एक निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य उससे उपकृत तभी हो सकता है जब वह उन आंतरिक मूल्यों, आग्रहों तथा कल्याणकारी विचारों में निष्ठा रखे जिनका उन पर नियंत्रण होना चाहिए अन्य शब्दों में मनुष्य में ज्ञान और प्रज्ञा दोनों ही का संतुलित विकास होना चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य में ऐसी जीवन-दृष्टि का आविर्भाव हो जो हृदय को उदात्त भावों से ओत-प्रोत कर सके और उसमें सही निर्णय लेने की शक्ति तथा उसके अनुरूप कार्य करने की क्षमता विकसित कर सके, क्योंकि समुचित जीवन-दर्शन या दृष्टि के अभाव में संहारक शक्तियों से बच पाना असंभव है।

आज हम आत्म-विस्मृति के दौर से गुजर रहे हैं। मनुष्य लोभ, स्वार्थपरता तथा प्रभुता की लिप्सा से उन्मत्त है- उसमें शक्ति और अधिकार का जुनून सवार है। इनकी प्राप्ति के निमित्त वह कुछ भी करने को तत्पर है। अधिक से अधिक धन संचित करने और ऊंचे से ऊंचा पद प्राप्त करने की यह लालसा उसमें इतनी बलवती हो उठी है कि उसके समक्ष जीवन के अन्य उत्तम उद्देश्य फीके पड़ गए हैं। अस्तु, गिरते हुए लक्ष्यों व मूल्यों को पुनःप्रतिष्ठित करना ही वर्तमान युग में समाज एवं दर्शन की मूल समस्या है। यह एक सामयिक समस्या तो है ही साथ ही शाश्वत भी है। भारत की वर्तमान त्रासदी पर तथा शाश्वत मूल्यों की महत्ता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए 'धर्मयुग'

में महादेवी वर्मा कहती है: "प्रत्येक युग अपनी समस्याएं लाता है और उसका निदान तथा समाधान शाश्वत मूल्यों के आलोक में किया जाता है। आज की समस्याएं भी आधुनिक परिस्थितियों की उपज हैं और उन्हें भी जीवन मूल्यों के आलोक में ही सुलझाया जाएगा।' भावी दिशा की ओर इंगित करते हुए वे आज की त्रासदी के कारण की खोज तथा महात्मा गांधी के सशक्त निर्देशन की महत्ता की बात करते हुए कहती हैं "जब क्रांतिकारियों के शस्त्र कुंठित हो गए तब हमने महात्मा गांधी के नेतृत्व में अपने उन्हीं शाश्वत जीवन-मूल्यों से सहायता ली और हम विजयी हुए। परन्तु विजय के साथ सर्वथा नये निर्माण की भी आदश्यकता थी, जिसकी ओर हमारे नेताओं का ध्यान नहीं गया। शासन-नीति को जिस विशाल जीवन-नीति से जोडना था, उससे न जोड़ने के कारण अनेक समस्याएं उत्पन्न होकर राष्ट्रचेतना पर अमरबेल के समान छा गई और उसे छिन्न-भिन्न कर दिया।" पुनः आज की अलगाववादी प्रवृत्ति के रूप को स्पष्ट करते हुए वे कहती हैः "... कोई प्रदेश यह नहीं समझना चाहता कि उसकी शक्ति इस महासंघ में सन्निहित है और इसके बिना उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। सांप्रदायिकता धर्म के रूढिग्रस्त रहने से उत्पन्न है और वह अलगाव ही पैदा करती है। भाषा की संकीर्णता अंग्रेजी के महत्व से जुड़ी है, जो राष्ट्र को वाणीहीन बनाती है।" और अंत में इस संपूर्ण त्रासदी से उबरने का मार्ग बतलाती हुई वे कहती हैं, "सबका निराकरण जीवन-मूल्यों में आस्था से ही संभव है, जिसके लिए शिक्षा, साहित्य, चरित्र गठन, राष्ट्रीय चेतना का विकास अनिवार्य है, चुनौतियों का सामना चुनौतियों से नहीं किया जा सकता, न समस्या का समाधान समस्याएं उत्पन्न करने से हो सकता है, परन्तु इन सब अंधेरी गलियों में जीवन-मूल्यों का प्रकाश चाहिए, जिसे हमारी राजनीतिक स्वार्थपरता की आंधी बुझाती चलती है।"

"सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अक्रोध, दया, क्षमा, शौर्य, धैर्य, विवेक, समता- जैसे धर्म के लक्षणों में से हमने 38 वर्षों में नई पीढ़ी को कुछ नहीं दिया।"[1]

महादेवी जी का विश्लेषण समीचीन है। आत्म-विस्मृति की इस भयंकर व्याधि से मुक्त होने की एक ही औषधि है और वह है कि मनुष्य जीवन के आधारभूत मूल्यों का स्मरण और सम्मान करना सीखें। हमें यह जानना चाहिए कि मनुष्य में ऐसा कुछ है जो 'सदाचार' के लिए लालायित है। आज राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय संकट का मूल कारण यही है कि हमारा प्रशिक्षण एकांगी हुआ है। इन शाश्वत आत्मिक मूल्यों को विस्मृत कर अधिकाधिक वैज्ञानिक अनुसंधान तथा प्रौद्योगिकी प्रगति को ही मानव कल्याण का एकमात्र आधार मान लेना ही सर्वथा अनुचित रहा है। मनुष्यों की लौकिक उपलब्धियां महत्वपूर्ण तो हैं पर इनसे भी उसका जीवन संपूर्ण नहीं होता। यदि होता तो पश्चिमी

1. वर्मा, महादेवी। चिंतकों को अपने आदर्श पर अटल रहना चाहिए। धर्मयुग : 1987, फरवरी 1 अंक 15 पृ० 7.

देशों के वासी जिन्होंने अपना जीवन सभी तरह से संपन्न बना लिया है, सही अर्थों में सुखी होते। पर देखने में आ रहा है कि अपने वैभव एवं ऐश्वर्य के बावजूद उनके मन अशांत हैं और वे आनंद की खोज में रत हैं। जुटाना और खुश होना जीवन को जीने का एक मंत्र है पर मनुष्य के पास जो कुछ भी है - शक्ति, ज्ञान, धन - उसे अपना न मानकर दूसरों के कल्याणार्थ समर्पित कर देना जीवन को जीने का एक दूसरा और अधिक सार्थक तरीका है। ऐसा इसलिए है कि मानव-मन और विश्व की चेतन आत्मा में अंतरंग संबंध है और इसी नाते हम लोक-कल्याणार्थ कार्य करने में सुख एवं शांति का अनुभव करते हैं। हमारे व्यवहार में जब भी इस एकता की प्रतीति में ह्रास हुआ हैं और हम में स्वार्थपरक वृत्तियां प्रबल हुई हैं, तब देश को उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ा है। सदियों तक पराधीनता की बेड़ी में जकड़े रहना भी हमारी आपसी फूट यानी आत्मिक एकता की विस्मृति का कारण रहा है। धर्म और प्रान्त के नाम पर भेद उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति भी इसी वृत्ति का परिणाम है और उसके भयंकर परिणाम आज देश तथा विदेशों के विभिन्न भागों में देखने को मिले रहे हैं।

अस्तु, युग की हमसे यह अपेक्षा है कि हम जीवन की समस्याओं को धैर्य, सहिष्णुता, आत्म-नियंत्रण और विवेक से सुलझाने के लिए आत्मशक्ति एवं एकता के बोध को अपने में सक्रिय करें। अन्य शब्दों में आज हमें समदर्शी होने की आवश्यकता है जो कि स्पष्टतः मानववादी दृष्टि की सर्वोच्च अभिव्यंजना है। पूर्व अध्यायों से स्पष्ट है कि मानववादी दृष्टि के आविर्भाव की पृष्ठभूमि में संवेदनशीलता विद्यमान रही है। इस चिंतन विद्या का मुख्य उद्देश्य मानव को केंद्र में प्रतिष्ठित करके ही मानव जाति के अभ्युदय और कल्याण की बात सोचना है। इन मानव हितों की रक्षा या तो अलौकिक आध्यात्मिक शक्तियों में आस्था के आधार पर की जा सकती है, अथवा इन अलौकिक शक्तियों से प्रेरणा प्राप्त किए बिना स्वयं अपनी ही शक्ति एवं संभावनाओं में आस्था को जगाकर की जा सकती है। इन दोनों ही प्रकार के विचारों को हम भारतीय चिंतनधारा में देखते हैं। प्रथम, जिसे ईश्वरवादी मानववाद के नाम से प्रस्तुत किया है, उसका प्रतिनिधित्व समकालीन भारतीय दर्शन में स्वामी विवेकानंद, रवींद्रनाथ टैगोर तथा गांधी करते हैं। इनके अनुसार अंतिम परम सत्ता मानवीय न होकर आध्यात्मिक है-ईश्वरीय है, लेकिन इस आध्यात्मिक सत्ता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति का केंद्र चूंकि मनुष्य है, और उसके उन्नत आयामों ही में उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है इसलिए उससे मनुष्य को - उसकी गरिमा को कोई ठेस नहीं पहुंचती बल्कि उसकी महिमा व महत्ता कई गुना बढ़ जाती है। कहने का आशय यह है कि ईश्वर की स्वीकृति मानव की अंतरंग गरिमा को स्थापित करने में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं उपस्थित करती। यही नहीं; क्योंकि दोनों में भावनात्मक अनन्यता है, इसलिए अनुभूति के उच्चतम रूप में वे दो न होकर एक हो जाते हैं- दोनों का द्वैत मिट कर अनन्य एकता में उसी प्रकार रूपांतरित हो जाता है, जिस प्रकार धीर गंभीर समुद्र में तरंगे अपने तरंग

रूप को समर्पित कर अनंत शक्ति एवं ऐश्वर्य की अविच्छिन्न अधिकारी हो जाती हैं। ईश्वर को मनुष्य के संदर्भ में उसी की दृष्टि से रूपायित करने का यह अद्‌भूत प्रयास सामयिक तो है ही, वह ईश्वर के सर्वथा अतिक्रामी स्वरूप का एक ऐसा विकल्प प्रस्तुत करता है, जिसे आज का मनुष्य कैसे अस्वीकार कर सकता है? क्योंकि वह तो उसके सामने उसके ही जीवन की चरम निष्पत्ति के रूप में प्रस्तुत होकर आता है और उसे ऐसी समृद्‌धि ऐसी पूर्णता से अलंकृत करता है, जो उसे ईश्वर की उपासना करने वाले-उसकी ही कृपा पर अवलंबित रहने वाले को शिशु-मानव के पद से उठाकर सम्राट के पद एवं अधिकार से सुशोभित कर देता है। परंपरागत दृष्टि के तहत विकसित यह मानववादी स्वर पश्चिम के तर्कपरक मानववाद से अपने ऐश्वर्य की अपरिमितता के नाते भिन्न तो है ही वह भारतीय संस्कृति के मूल संस्कारों के सर्वथा अनुरूप है इसलिए यह हमारी चेतना का शाश्वत स्वर है और इसके प्रति हमारा मोह प्राकृतिक तो है ही, उचित भी है, क्योंकि वह विरासत में मिली ऋषि चेतना के प्रसाद के रूप में प्राप्त शाश्वत आस्था के अनुरूप है।

दूसरा अनीश्वरवादी मानववाद जिसके प्रबल समर्थक मानवेंद्रनाथ राय हैं। वे किसी अलौकिक सत्ता में आस्था न रखकर मनुष्य में ही निहित सृजनात्मक क्षमताओं में दृढ़ विश्वास रखते हैं। वे मनुष्य को उसकी भौतिक यथार्थता में स्वीकार करते हैं और उसे ही अंततः अपने वर्तमान एवं भविष्य का निर्माता मानते हैं। इस प्रकार उनके दर्शन का केंद्र बिंदु मनुष्य ही है, जो पार्थिव होते हुए भी उन्नत आध्यात्मिक आकांक्षाएं रखता है और उन्हीं उन्नत आकांक्षाओं के माध्यम से राय उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाने की बात करते हैं।

अस्तु, उनका दर्शन धार्मिक तथा अलौकिक शक्तियों के नियंत्रण विषयक मिथ्या धारणाओं से मनुष्य को मुक्त करते हुए उसके जन्मसिद्‌ध अनंत नैतिक 'स्वतंत्रता' का एहसास कराता है, ताकि वह अपने में विद्‌यमान अनंत नैतिक संभावनाओं को उजागर करने के लिए अपने को सक्षम माने। मनुष्य की आत्मनिर्भरता की यह सबल भावना राय की मानववादी दृष्टि की विशेषता है। उनका मानव अपने संसार तथा इतिहास का स्वयं नियंता है।

स्मरण रहे कि राय के दर्शन में अलौकिक सत्ता के निषेध का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य के जीवन में नैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं है, बल्कि उसकी नैतिकता एवं धर्म एक भिन्न रूप में उभर कर सामने आता है। उनकी दृष्टि में मनुष्य स्वभावतः विवेकशील तथा नैतिक है इसलिए अपने वास्तविक धर्म के प्रति जागरूक रह सकता है। सच्चे मानव-धर्म का आधार समस्त मनुष्यों में अंतर्निहित मानवता या 'मानवपन' है, कोई अलौकिक सत्ता नहीं। अस्तु, मंदिरों या देवस्थानों में जाकर की गई पूजा उपासना ही धर्म का वास्तविक रूप नहीं है, अपितु परस्पर सहयोग, सद्‌भावना और प्रेम ही धर्म के वास्तविक लक्षण हैं- उसके स्वाभाविक गुण हैं जो सहज ही उसे एकता

के स्वर्गसूत्र में पिरोने वाले हैं। राय के अनुसार विश्व-प्रक्रिया निरंतर है, वह विश्व की अंतरंग नियमबद्‌धता का प्रकाशन है। विश्व के नियमों का स्रोत विश्व में ही विद्‌यमान है किसी अतींद्रिय सत्ता में नहीं। अस्तु, मनुष्य का घर-संसार यही लौकिक जगत् है। उसकी सुख-शांति इसी संसार में निहित है- यदि इस संसार में उसका अभ्युदय नहीं हुआ तो किसी अन्य संसार की आशा व्यर्थ है। यही कारण है कि मानवेंद्रनाथ राय एक क्रांतिकारी दृष्टि प्रस्तुत करते हुए कहते है कि प्रतिभा-सपन्न व्यक्तियों के नास्तिक विचार क्रांति के अग्रदूत होते हैं। विचारों के साहस से युक्त, स्वतत्रता की इच्छा के प्रति जागरूक स्वाधीन मनुष्यों के स्वतंत्र समाज की कल्पना से संदीप्त तथा व्यक्ति को उसकी गरिमा तथा प्रमुखता के स्थान पर पुनःप्रतिष्ठित करने के संकल्प में जगत् का पुनर्निर्माण करने की इच्छा से युक्त मनुष्यों का समाज आधुनिक सभ्यता के वर्तमान संकट से बाहर निकलने का मार्ग प्रदर्शित कर सकता है।[2]

उनका कहना है कि समाज की ऐसी पुनर्रचना नागरिकों की एक समुचित शिक्षा ही पर निर्भर करेगी। ऐसे समाज में सामान्य प्रगति और स्मृद्‌धि होगी, किंतु उससे व्यक्ति की स्वतंत्रता मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होगा। स्पष्ट है उनकी नव्यमानववादी दृष्टि कांट के साध्यों के साम्राज्य का हमें स्मरण कराती हैं क्योंकि वह संसार के एक ऐसे सामाजिक पुनर्निर्माण का पक्षधर है, जो आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र नैतिक मनुष्यों के सहकारी प्रयासों द्वारा स्वतंत्र मनुष्यों का राष्ट्रमंडल बन जाए।[3]

राय द्वारा प्रस्तावित समाज व्यवस्था भले ही काल्पनिक तथा अव्यावहारिक प्रतीत हो, किंतु उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मानवता का कल्याण व अभ्युदय उसी में निहित है। वस्तुतः उनका दर्शन युगीय आकांक्षाओं को शब्दबद्‌ध करता है क्योंकि आज का निराश एवं कुंठित मनुष्य परंपरागत धर्म की शरण लेना पंसद नहीं करता, कारण यह है कि परंपरागत धर्म और उससे समर्पित ईश्वर उसकी बौद्‌धिक जिज्ञासा को शान्त नहीं कर पाते, उसकी कुंठा, निराशा तथा मानसिक उलझनों से उसे मुक्त नहीं करते इसलिए इसका समाधान उसे स्वतः अपने में- अपनी अनंत रचनात्मक शक्ति व क्षमता ही में ढूंढ़ना होगा। राय का दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य में पर्याप्त नैतिकता और नैसर्गिक शुभत्व विद्‌यमान है, जिसे समुचित शिक्षा द्वारा जागृत किया जा सकता है- उसे उसकी महानता का बोध कराया जा सकता है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपनी संकुचित स्वार्थमयी वृत्तियों का अतिक्रमण कर एक स्वस्थ समाज की रचना कर सकता है। राय अलौकिकता का निषेध करने के बावजूद नैतिक निष्ठा से युक्त मनुष्य को प्रतिष्ठित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते- यही उनके मानववादी

2. *रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवौल्युशन*, खंड-2, पृ० 310.
3. वहीं, पृ० 310.

होने का प्रबल साक्ष्य है। किंतु उनके मानववाद की अपनी कुछ सीमाएं हैं। हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि अंततः मनुष्य की नैतिकता का स्रोत क्या है? जिसकी कोई समुचित संतोषजनक व्याख्या हमें इनके दर्शन में नहीं मिलती। इसलिए ऐसा लगता है कि उनका दर्शन मानव स्वभाव के साथ पूर्ण न्याय करने में समर्थ नहीं है।

स्वामी विवेकानंद ने, जिनसे इस युग का आरंभ होता है, जिस मानवतावादी विचारधारा का प्रसारण किया। उसमें हमें संभवतः इस समस्या का अधिक बेहतर हल मिलता है, उन्होंने मानव को अंधविश्वासों से- जिनमें धार्मिक अंध विश्वास भी शामिल हैं, ऊपर उठ कर जीवन को समझने और जीने की बात की है। उनका यह भी कहना था कि आप धार्मिक सत्यों को तब तक न मानें जब तक कि आप उन्हें अपने अनुभव से प्राप्त न कर लें। उन्होंने सत्यों का प्रतिपादन तो किया ही, उन्हें अनुभव से अनुप्राणित करने का रास्ता बतलाया जो विशिष्ट व्यक्तियों के लिए नही बल्कि जन-साधारण के लिए भी उतना ही सहज सिद्ध हो सकता है। अस्तु, भारतीय संस्कृति से पोषित तथा अंधविश्वासों से दूर उन्होंने जिस अध्यात्मवाद का प्रसारण किया वह प्रासंगिक तो था ही अपने स्वर परिसर में व्यापक भी था।

यूं तो इस धारा का परिचय हमें सभी कालों में मिलता है पर समकालीन भारतीय दर्शन में स्वामी विवेकानंद, रवींद्रनाथ टैगोर तथा गांधी आदि के विचारों में यह भाव जिस अतिशयता से मिलता है, वह सामयिक तो था ही, उसका हमारी संस्कृति के संदर्भ में, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, शाश्वत महत्व भी है। समवेत रूप से इन तीनों ही दार्शनिकों में आध्यात्मिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में मानव स्वरूप की व्याख्या मिलती है। इनके अनुसार यह समूचा चर-अचर जगत असीम, अनंत, आध्यात्मिक सत्ता का प्रकाशन मात्र है। पर मनुष्य प्रकृति की विविध विभूतियों में श्रेष्ठतम है, इसलिए वह उस असीम, अनंत, ईश्वरीय सत्ता के पूर्ण प्रकाशन का सर्वोत्तम केंद्र है। उसमें ईश्वर अपने को विशेष रूप से उद्घाटित करता है। इसलिए ईश्वर के प्रकट रूपों में मनुष्य अनुपम व अतुलनीय है। मानवीय गरिमा की इसी निष्ठा में दृढ़ आस्था के तहत इन सभी की अतिशय मानववादी दृष्टि का प्रसारण मिलता है। इन्होंने परंपरागत धार्मिक तथा ईश्वरीय आस्थाओं, मान्यताओं से भिन्न युग की आवश्यकता के अनुरूप धर्म क्या होना चाहिए- इस पर भौतिक विचार प्रस्तुत करते हुए अपने को ही यानी मनुष्य को इन आस्थाओं का आधार बनाया और धर्म को जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया। यहां अंततः एक विशेष प्रकार का मानववाद आकार लेता है जिसका प्रेरणास्रोत इनकी अपूर्व-अनोखी धर्मनिष्ठा है। वे ईश्वर की खोज में मंदिरों, देवालयों, तीर्थ स्थानों अथवा किसी अलौकिक जगत् में जाने की बात नहीं करते। उनके अनुसार उसकी प्राप्ति के लिए संसार से दूर जाने की कोई आवश्यकता नहीं, यह कर्मभूमि पृथ्वी ही उसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम स्थान है, जहां मानव सेवा के माध्यम

से साक्षात् ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार इन लोगों ने ईश्वर-आराधना को मंदिरों तक सीमित न कर उसे जन-जीवन से जोड़ने के अद्भूत प्रयास द्वारा धर्म के नवीन क्षितिज का उद्घाटन किया है। यह इनकी युग को अनुपम देन है। इन्ही के प्रयासों से आज ईश्वर की परिभाषा बदल गई है- या यूं कहा जाए कि उसके प्रति नवीन दृष्टि का आविर्भाव हुआ है- वह हमसे बाहर नहीं हमारे भीतर ही है, जिसे कि हम अपनी कर्म साधना या धर्म साधना-अंततः दोनों एक हैं- द्वारा इसी जीवन में प्राप्त कर सकते हैं। इस आवश्यक स्वर को सभी ने-विवेकानंद, टैगोर तथा गांधी ने अपने विचारों में अपने-अपने ढंग से प्रसारित किया है। मानव की निष्काम सेवा द्वारा ही ईश्वर की सच्ची सेवा संपन्न हो सकती है यह भाव 'नर-नारायण' तथा 'दरिद्रनारायण' के आह्वान में अपूर्व पारदर्शिता के साथ इस युग में व्यक्त हुआ है। पर यह इतना सरल भी नहीं है। निर्धन निरीह पददलितों की सेवा द्वारा ईश-साक्षात्कार के लिए संकुचित, स्वार्थपरक वृत्ति के परित्याग द्वारा निरभमानी होने की आवश्यकता है। अस्तु दलित-दरिद्रों की सेवा, अपने अहं, को पूर्णतः नेस्तनाबूद करने की सशक्त साधना है। इसके द्वारा मनुष्य स्वतः प्रेम, दया और करुणा की प्रतिमूर्ति बनकर स्थायी रूप से ईश्वरीय भाव में स्थित हो जाता है- जीवन की समस्त साधनाओं का यही लक्ष्य है। इस दृष्टि से विश्वजनीन कर्म ही श्रेष्ठ धर्माचरण के रूप में इन सभी के दर्शन में स्वीकार किया गया है। यह विश्वजनीन कर्म बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'ब्रह्म विहार' की अवधारणा को साकार करता है। इस श्रेष्ठ-धर्माचरण का सामयिक महत्व तो है ही साथ ही साथ इसका शाश्वत मूल्य भी है।

निष्कर्षतः मनुष्य जीवन की सार्थकता जन-सेवा की सरल एवं सर्वोत्तम साधना द्वारा ब्रह्मत्व या अनंतत्व की अनुभूति में निहित है। किंतु रवींद्र का संवेदनशील मन इतने से ही संतुष्ट नही होता है। वह तो मनुष्य और ईश्वर के मध्य पारस्परिक व्यवहार के आदान-प्रदान की भी मांग करता है। जहां एक ओर मानवात्मा परमात्मा की सर्वोच्च एवं अप्रतिम अभिव्यक्ति है, वहीं दूसरी ओर परमात्मा की सार्थकता भी मनुष्य पर ही निर्भर करती हैं। वह मनुष्य के प्रेम का भूखा है। इस अर्थ में मनुष्य की गरिमा और दायित्व दोनों ही अनंत गुना बढ़ जाते हैं। यह टैगोर के मानववादी दृष्टि की अनूठी विशेषता है। वस्तुतः रवींद्र मनुष्य को सशक्त रूप में गौरवान्वित करने की आकांक्षा से प्रेरित हो अपनी कविताओं में ईश्वर को मानव पर निर्भर घोषित करने में भी नहीं चूकते। उन्होंने अपनी काव्यात्मक कृति 'बलाका' में ईश्वर को मनुष्य का ऋणी बताते हुए कहा है :

"मानव नेत्रों के भंडार से तुम वह
प्रकाश खरीदते हो

जो तुम्हें अपने प्रभात के लिए चाहिए।"
"मैं ही वह नयन हूं जिससे जगत्
अपने आपको देखता है और अपने ईश्वरत्व को पहचानता है।"[4]

ईश्वर की ऐसी प्रस्तुति पर यह आरोप स्वाभाविक है कि यह उसकी सर्वोच्च सत्ता, स्रष्टा तथा सर्वशक्तिमान की सामान्य अवधारणाओं के प्रतिकूल है। सामान्य दृष्टि से भी यह उचित नहीं है कि ईश्वर को एक ओर परमसत्ता के रूप में स्वीकार किया जाए और दूसरी ओर असीम सत्ता पर निर्भर भी। किंतु हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि कवींद्र रवींद्र में कलाकार की संवेदनशीलता का प्राबल्य है जिससे यह कहा जा सकता है कि उनका ईश्वर को भूखा, भिक्षुक, ऋणी या निर्भर कहना मात्र सृष्टि-क्रम में मनुष्य की सर्वोपरि स्थिति को व्यक्त करने का कल्पनाशील ढंग मात्र है। किंतु सच्चाई तो यह है कि सत्ता का जो रूप हृदय की गहराइयों में जिया जाता है उसकी अभिव्यंजना हमें विस्मृत कर सकती है पर है वह अप्रतिम, विशिष्ट और इसी नाते सही भी। यही कारण है कि टैगोर विश्व व्यवस्था में केवल मनुष्य की श्रेष्ठ स्थिति दर्शाकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते अपितु उससे भी आगे बढ़कर सत्ता, सत्य और ईश्वर तक को मानवीय अनुभूति के माध्यम से रूपायित करते हैं और धर्म को मानव धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं- ऐसा धर्म जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है और जिसका पालन समाज में रहकर ही संभव हो सकता है।

स्पष्ट है कि मानववाद की इस अभिव्यंजना में ईश्वर एक नवीन अर्थ में प्रस्तुत हुआ। गांधी ने जब यह कहा कि 'परमेश्वर सत्य है' कहने की अपेक्षा 'सत्य परमेश्वर है' कहना अधिक उचित है तब उन्होंने सत्य के माध्यम से उसके अतिक्रामी रूप का ही निषेध नहीं किया वरन् उसके जन-सामान्य की पहुंच के भीतर होने के एहसास को उभारने का भरपूर प्रयास किया। क्योंकि सत्य के रूप में ईश्वर तो संसार के सभी धर्मों और मनुष्यों के लिए समान रूप से ग्राह्य और सभी मूल्यों का आधार है। यही नहीं उसके आधार पर उन्होंने मनुष्यों को एकता के स्वर्णिम सूत्र में बांध कर एक सार्वभौम नैतिकता के पथ को प्रशस्त किया, जिसमें हिंसा, एवं शोषण का पूर्णतः अभाव हो। अन्य शब्दों में गांधी ने सत्य का आश्रय लेकर सर्व-धर्म समभाव और विश्व बंधुत्व की कल्पना को साकार किया। कहना न होगा कि यह गांधी के साथ युग का समवेत एवं शाश्वत स्वर था, जिसके द्वारा समाज की सभी विषमताओं का समाधान हो सकता है। गांधी के एकादश-व्रत का भी साधना की दृष्टि से विशेष महत्व है और उनका 'सर्वोदय' मानववादी दर्शन की चरम परिणति है, जिसमें मानव-मात्र के अभ्युदय की अनंत संभावनाएं और आशाएं निहित हैं।

4. नरवणे, वी०एस० माडर्न इंडियन थॉट न्यूयार्क : एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1964, पृ० 146 से उदधृत।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन संस्कृति तथा आध्यात्मिक परंपरा से जुड़े होने के बावजूद इन तीनों में से कोई भी रूढ़िवादी नहीं था। सच्चाई तो यह है कि रूढ़ियों, अंधविश्वासों और कर्मकांड के विरुद्ध ये बराबर जूझते रहे और जनमानस को भी इसके प्रति सदैव सचेत करते रहे एवं अपनी आध्यात्मिक विरासत का अटूट संबल धारण कर मानव गरिमा को व्यक्त करते हुए मानव-धर्म पर ही आग्रह रत रहे। उन्होंने प्रेम को जीवन के सत्य की अनुभूति कराने वाले मूल मंत्र के रूप में प्रस्तुत कर विश्व-एकता का मार्ग सुगम किया।

रवींद्र की दृष्टि काव्यात्मक है उन्होंने विश्व के संगीत को-उसके ताल को सुना और उससे ही विश्व की एकता एवं संगति के सपने को शब्दबद्ध किया। पर गांधी में व्यावहारिक पक्ष प्रबल है - वे एक कर्मयोगी हैं। यही कारण है कि उनकी दृष्टि सौंदर्यपरक होने की अपेक्षा नीतिपरक अधिक है। उनके लिए कर्तव्य से बढ़कर सुंदर कुछ भी नहीं है। उन्होंने जो कुछ विचारा उसे ही जीवन शैली के रूप में स्वीकार किया। मनुष्य की गरिमा तथा कर्मशीलता में उनकी दृढ़ आस्था थी। सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के संदर्भ में उसकी अनंत सृजनात्मक क्षमताओं के समुचित विकास के लिए ही उन्होंने मानवीय मूल्यों पर अधिक बल दिया। गौतम बुद्ध की भांति गांधी दार्शनिक न थे क्योंकि उन्होंने दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने का कोई प्रयास नहीं किया।

स्वामी विवेकानंद ने तो इस युग का निर्माण ही किया है। उनमें हमें शंकर की बौद्धिकता और बुद्ध की करुणा का समवेत रूप देखने को मिलता है। वेदांत के आधार पर वे एक ऐसी जीवन-शैली की स्थापना करना चाहते थे जिससे मानव जीवन की सभी समस्याओं का सहज समाधान हो सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि विवेकानंद द्वारा वेदांत एक सशक्त तर्कसंगत और अत्यंत ही सार्थक दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। उनकी व्याख्या के अनुसार मनुष्य की सीमित-सांत सत्ता मिथ्या अथवा स्वप्न मात्र नहीं है वरन् अपने सार रूप में वह परम सत् ही है। धर्म के स्वरूप की व्याख्या के संदर्भ में वेदांत के इसी मूल एकता के स्वर को स्वामी जी ने शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में मुखर किया और अपरिमित ख्याति से विभूषित हुए। वहां उनकी सफलता और ख्याति का मुख्य कारण संभवतः यही था कि जहां अन्य देशों के प्रतिनिधि अपने-अपने धर्म के ईश्वर का गुणगान करते रहे वहीं केवल विवेकानंद ही ऐसे थे जिन्होंने सबके ईश्वर की बात कर सभी को विमुग्ध कर दिया। उन्होंने ही अत्यंत ओजस्वी स्वर में कहा कि सभी का ईश्वर एक है क्योंकि सभी का मूल रूप एक है - 'ईश्वर कोई अतिक्रामी सत्ता नहीं है। वह तो प्रत्येक जीव का ही अपना शाश्वत स्वरूप ही है' तर्क के आधार पर नहीं बल्कि अनुभूति के आधार पर प्रस्तुत यह सत्य सभी को चौंकाने वाला था साथ ही सभी में अपूर्व आत्म-विश्वास भरने वाला था। यही कारण है कि

विवेकानंद की दृष्टि न तो क्षेत्रीय थी न देशीय - वह सार्वभौम एवं समन्वयकारी थी, जिसकी परिधि में सभी मनुष्य मनुष्य होने के नाते सम्मिलित थे। वे पश्चिम की गतिशीलता, सामाजिक चेतना, साहसिक भावना और कठिन परिश्रम से अत्यधिक प्रभावित थे। विज्ञान की उपलब्धियों में उन्होंने मनुष्य की संपूर्ण मानव-जाति की विजय को देखा। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि ऐसा समय अवश्य आएगा जब पूर्व के वेदांत और पश्चिम के विज्ञान के अभूतपूर्व समन्वय के फलस्वरूप एक ऐसी उदात्त संस्कृति का आविर्भाव होगा, जो विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के वैशिष्ट्य की रक्षा करती हुई मानवता के सही विकास का मार्ग प्रशस्त करेगी, जिसमें आपसी भेद-भाव, हिंसा तथा ध्वंसात्मक वृत्तियों का कोई स्थान न होगा और विश्वबंधुत्व के सही भाव की स्थापना हो सकेगी।

उनके अनुसार धर्म अमूर्त और अंध आस्था का विषय नहीं, वह मात्र पोथियों, शास्त्रों और कर्मकांडों तक सीमित नहीं अपितु व्यवहार की वस्तु है। उनका दृढ़ विश्वास है कि सही आध्यात्मिक दृष्टि ही हमारे जीवन के समस्त कृत्यों का सही आधार हो सकती है। आध्यात्मिक बल से बली मनुष्य ही चाहे तो किसी भी क्षेत्र अथवा विषय में क्षमता संपन्न हो सकता है और जब तक मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति से संपन्न नहीं होता तब तक उसकी भौतिक आवश्यकताएं और सुविधाएं उसे भली-भांति संतुष्ट नहीं कर सकती। आधुनिक युग में आज इसी आत्मिक शक्ति का अभाव है। आज कोई भी देश शक्ति, विज्ञान, टेक्नालाजी तथा भौतिक विकास में कितनी भी प्रगति क्यों न कर ले किन्तु वह तब तक सौहार्दपूर्ण एवं सुखी राष्ट्र के लक्ष्य तक नहीं पहुंछ सकता जब तक सच्चे मानव-धर्म की वह रक्षा न करे और ऐसी धार्मिकता अतिशय संवेदनशीलता, प्रेम एवं सेवा की मनोवृत्ति की अपेक्षा करती है। निःसंदेह आज का मनुष्य अपनी सारी उपलब्धियों के बावजूद क्षुब्ध, कुंठित, निराश व हताश है। वह अपनी आध्यात्मिकता को खो चुका है। ऐसी परिस्थिति में मानववादी दृष्टि यानी मानव की अपने में निरपेक्ष आस्था ही मनुष्य को जीवन-यापन के लिए सुदृढ़ आधार प्रदान कर सकती है। आज विवेकानंद के व्यावहारिक वेदांत तथा गांधी के सर्वोदय दृष्टि की देश को ही नहीं अपितु पूरे विश्व को आवश्यकता है, ताकि विश्व भौतिक समृद्धि एवं बौद्धिक संतुष्टि को ही नहीं अपितु सुख-शांति एवं सौहार्दपूर्ण जीवन के लिए प्रयत्नशील हो सके। आज आवश्यकता इस बात की है कि मानववादी दृष्टि मानव के लिए मात्र एक दार्शनिक दृष्टि न रह जाए बल्कि एक आस्थापूर्ण जीवन शैली में रूपायित हो जाय ताकि उससे न केवल व्यक्ति का हित हो बल्कि उसका संपूर्ण परिवेश समृद्ध हो जाए। इसलिए इन सभी के उद्बोधन की सामयिक ही नहीं अपितु शाश्वत महत्ता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय जन-मानस की अव्यक्त आकांक्षाओं के अनुरूप दर्शन को प्रस्तुत करने का श्रेय इन सभी दार्शनिकों को तो है ही किंतु इन सभी में विवेकानंद का स्थान अप्रितम है, क्योंकि इन्होंने ही इस युग के मूल

स्वर को सर्वप्रथम शब्दबद्ध किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमें जीवन को संतुलित करने के लिए एक व्यापक आध्यात्मिक दृष्टि की आवश्यकता है जो हमारे जीवन के सभी पहलुओं के साथ न्याय करते हुए जीवन को उसकी त्रासदियों के बावजूद जीने योग्य बना सके और क्योंकि मानववादी दृष्टि का सीधा संबंध जीवन और जीवन के शाश्वत मूल्यों से है जिनकी अवहेलना करके हम जी नही सकते, इसलिए उसका शाश्वत महत्व है। आज हम विनाश के जिस कगार पर खड़े हैं, वहां से पीछे लौटने में और नये सिरे से जीवन को जीने के शुद्ध संकल्प में यह दृष्टि अपरिहार्य-सी प्रतीत होती है।

■

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथ-सूची

काका साहब कालेलकर आदि : *व्यक्तित्व विचार और प्रभाव, गांधी* (संपादक) संवत्सरी के उपलक्ष्य में प्रकाशित, नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल, 1966.

गांधी, मोहनदास कर्मचंद : *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा,* (अनुवादक) हरिभाऊ उपाध्याय, नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल, 1948.

गांधी जी : *शरीर श्रम,* संग्राहक रवींद्र केलेकर, अहमदाबाद, जनजीवन प्रकाशन मंदिर, 1960.

गांधी जी : *सर्वोदय,* संपादक भारतन् कुमारप्पा, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, 1963.

गांधी जी : *गांधी साहित्य 5 धर्मनीति,* नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, 1962.

गांधी जी : *गांधी साहित्य-1 प्रार्थना-प्रवचन,* प्रथम खंड, नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल, 1948.

गांधी जी : *गांधी साहित्य-2 प्रार्थना-प्रवचन,* द्वितीय खंड, नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल, 1954.

गांधी जी : *सत्य ईश्वर है,* (संपादक) आर० के० प्रभु, अहमदाबाद : नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, 1959.

गांधी जी : *मंगल प्रभात,* (फ्राम यरबडा मन्दिर) अहमदाबादः नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, 1945.

ठाकुर, रवीन्द्रनाथ : *गीतांजलि,* (अनुवादक) मुरलीधार श्रीवास्तव, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1976.

ठाकुर, रवीन्द्रनाथ : *अरुप रतन,* (अनुवादक) राजेश दीक्षित, दिल्लीः प्रभात प्रकाशन, 1964.

ठाकुर, रवीन्द्रनाथ : *साधना,* (अनुवादक) सत्यकाम विद्यालंकार, दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स, 1972.

द्विवेदी, पारसनाथ : *भारतीय दर्शन,* आगरा : श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, 1973.

दत्त, धीरेन्द्रमोहन : *महात्मा गांधी का दर्शन,* (अनुवादक) डॉ० रामजी सिंह, पटना : बिहार ग्रन्थ अकादमी, 1973.

दामोदरन्, के० : *भारतीय चिंतन परंपरा,* (अनुवादक) श्रीदरन्, दिल्लीः पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०, 1982.

नेहरू, जवाहरलाल : *राष्ट्रपिता,* नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल, 1961.

वन्द्योपाध्याय, हिरण्मय : *रवीन्द्र दर्शन,* (अनुवादक) अनिलवरण गंगोपाध्याय, दिल्ली : श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड, 1965.

बिड़ला, घनश्याम दास : *बापू,* दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

मशरूवाला, किशोरीलाल ध०, : *गांधी विचार दोहन,* (अनुवादक) आनन्दवर्धन, नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल, 1968.

राव, बी० के० आर० बी० : *स्वामी विवेकानंद,* (अनुवादक) कृष्णगोपाल अग्रवाल, दिल्ली, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1983.

राधाकृष्णन् : *भारतीय दर्शन खंड-1,* (अनुवादक) नन्दकिशोर गोभिल विद्यालंकार, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1972.

लक्ष्मी सक्सेना, सभीजीत मिश्र तथा शिवानन्द शर्मा द्वारा संपादित : *समकालीय भारतीय दर्शन,* उत्तर प्रदेश लखनऊ हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1974.

लुई फिशर : *गांधी की कहानी,* (अनुवादक) चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, सत्साहित्य प्रकाशन, 1956.

वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : *भारतीय दर्शन,* आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, शिक्षा साहित्य के प्रकाशक, 1967.

'सुमन' रामनाथ : *उत्तर प्रदेश में गांधी जी,* लखनऊ सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1969.

स्वामी तेजसानन्द : *रामकृष्ण संघ, आदर्श और इतिहास,* नागपुर : रामकृष्ण मठ,

स्वामी विवेकानन्द : *भारतीय नारी,* नागपुर : रामकृष्ण मठ : 1984.

स्वामी विवेकानन्द : *हिन्दू धर्म,* नागपुर : मठ, 1982.

स्वामी विवेकानन्द : *शिक्षा,* नागपुर : रामकृष्ण मठ, 1985.

स्वामी विवेकानन्द : *धर्म विज्ञान,* नागपुर : रामकृष्ण मठ, 1982.

स्वामी विवेकानन्द : *भक्तियोग,* नागपुर : रामकृष्ण मठ, 1981.

स्वामी विवेकानन्द : *कर्मयोग,* नागपुर : रामकृष्ण मठ, 1984.

स्वामी विवेकानन्द : *प्राच्य और पाश्चात्य,* नागपुर : रामकृष्ण मठ, 1982.

स्वामी विवेकानन्द : *स्वामी विवेकानन्द से वार्तालाप,* नागपुर : रामकृष्ण मठ, 1982.

स्वामी विवेकानन्द : *विवेकानन्द साहित्य,* जन्मशती संस्करण, (द्वितीय खंड), प्रकाशक-स्वामी गंभीरानन्द, अध्यक्ष अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय, 1963.

सक्सेना, लक्ष्मी : *आधुनिक भारत के युग प्रवर्तक संत,* पटना, बिहार, ग्रन्थ कुटीर प्रकाशन,

मुख्य पत्र-पत्रिकाएं

यंग इंडिया : गांधी जी के संपादकत्व में अहमदाबाद से निकलने वाला अंग्रेजी साप्ताहिक।

हरिजन : अहमदाबाद से निकलने वाला अंग्रेजी साप्ताहिक, संस्थापक महात्मा गांधी।

रेडिकल ह्यूमनिस्ट : कलकत्ता से निकलने वाला अंग्रेजी साप्ताहिक।

धर्मयुग : 1987, फरवरी 1, अंक 5.

Chakrawarti, A. : *Humanism In Indian Political thought,* Madras : Naesan, 1937.

Datta, D.M. : *The Chief Currents of Contemporary Philosophy,* Calcutta : University Press, 1961.

Edwards, Paul (ed) : *The Encyeclopaedia of Philosophy,* Volume IV, New York : Macmillan and Freed Press, 1967.

Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. VII, New York : Macmillan, 1930.

Huxley, Julian S. (ed) : *The Humanist Frame,* London : Alllen & Unwin, 1961.

Karnik, V.B. : *M.N. Roy,* Delhi : National Book Trust, India, 1980.

Lamont, Corliss : *The Philosophy of Humanism,* London: Elec Books, 1958.

Mishra, S. : *The Anguished Freedom,* Delhi : G.K.D. Publication, 1979.

Martin, J. : *True Humanism,* London : Geogrey Bels, 1941.

Naravane, V.S. : *Modern Indian Thought,* New York Asia Publishing House, 1964..

Radhakrishnan & Muirhead : *Contemporary Indian Philosophy,* London : George Allen & Unwin Ltd., 1936.

Roy, M.N. : *Beyond Communism,* Calcutta :Spratt Philip Renaissanee Publication, 1968.

Roy, M.N. : *Materialism,* Delhi : Ajanta Publication, 1982.

Roy, M.N. : *Reason Romanticism and Revolution,* Vol. I, Calcutta : Renaissance publishers Ltd., 1952.

Roy, M.N. : *Reason Romanticism and Revolution,* Vol. II, Calcutt : Reneissance Publishers Ltd., 1955.

Roy, M.N. : *New Humanism-A Manifesto,* Delhi : Ajanta Publication, 1982.

Roy, M.N. : *New Orientation,* Delhi : Ajanta Publication, 1982.

Swami Vivekanand : *Practical Vedanta,* Calcutta : Advaita Ashram, 1958.

Swami Vivekanand : *The Message of Vivekanand,* Publisher : Swami Gambhiranand, Chairman, Advaita Ashram, Mayawati, almora, Himalaya, 1962.

Sartre, J.P. : *Existentialism and Humanism,* Translated by Philip Mairet, London : Methren, 1965.

Stoddard, L.T. : *Scientific Humanism,* New York : Saribner's Strawson, 1926.

Schiller, F.C.S. : *Must Philosophers Disagree,* London : Macmillan, 1934.

Tagore, Ravindra Nath : *The Religion of Man,* London : George Allen & Unwin Ltd., 1958.

Tagore, Ravindra Nath : *Personality,* Macmillan Company of India Ltd., 1977.

248/CST/ND/01- 600 Copies -May,02/MGITBP/Chdg

PED.806
600.2002. DSK II

Printed by the Manager, Government of India Text-Books Press,
Chandigarh-160002 and published by the Controller of Publications,
Civil Lines, Delhi-110054.